॥ ॐ अर्हते नमः ॥

पूज्यश्री अमोलक ऋषिजी महाराज स्मारक ग्रन्थमाला पुष्प सं. ४७

शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज के द्वारा ढालो मे विरचित "जिनदास सुगुणी" चरित्र-ग्रंथ का हिन्दी गद्य में रूपांतर

धर्मवीर जिनदास

संयोजक—

श्रमणसंघीय पंडित

मुनिश्री कल्याण ऋषिजी महाराज



वीर सवत् २४९१ अमोलाब्द २९		अर्द्ध मूल्य १=५०	विक्रम सवत् २०२२ सितम्बर सन् १९६५ ई

प्रकाशक:—
अमोल जैन ज्ञानालय
कल्याणस्वामी रोड,
[लिया (महाराष्ट्र)

द्वितीय संस्करण १००० प्रतियाँ

मुद्रक:—
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
र त ला म.

८ श्रीमान् तेजराजजी उदयराजजी रूनवाल ”
९ ” मुकनचन्दजी कुशलराजजी भंडारी ”
१० ” नेमीचन्दजी शिवराजजी गोलेच्छा वेलूर
११ ” पुखराजजी सम्पतराजजी धोका यादगिरि
१२ ” इन्दरचन्दजी गेलड़ा मद्रास
१३ ” विरदीचन्दजी लालचन्दजी मरलेचा ”
१४ ” जसराजजी बोहरा की धर्मपत्नी श्री केशरबाई सुरापुर
१५ ” चम्पालालजी लोढ़ा की धर्मपत्नी श्रीमती धीसीबाई सिकंदराबाद
१६ ” सज्जनराजजी मूथा की धर्मपत्नी श्री उमरावबाई आलदूर (म.)
१७ ” चम्पालालजी पगारिया मद्रास
१८ ” अमोल जैन स्था० सहायक समिति पूना
१९ ” गिरधारीलालजी बालमुकनजी लूंकड़ बोरद
२० ” श्री स्थानकवासी जैन श्री संघ घोटी
२१ श्रीमती भूरीबाई भ्र० छोगमलजी सुराणा वाणियमवाड़ी
२२ ” मेहताबबाई भ्र० अमोलकचन्दजी शीशोदिया ”
२३ श्रीमान् कनीरामजी गांग की धर्मपत्नी सौ. रामकुंवरबाई पिंपलगांव (नासिक)
२४ ” मन्नालालजी सुराणा की धर्मपत्नी सौ. मदनबाई सिकंदराबाद
२५ ” खिवराजजी जीवराजजी चोरड़ा होलनाथा (धूलिया)
२६ ” वड्डलालजी तुलसीरामजी कटारिया वलवाड़ा (नासिक)
२७ ” हीरालालजी हमीरमलजी बोथरा की धर्मपत्नी सौ. श्रीमती मीराबाई अन्डरसनपेठ

मरणक:—

१ श्रीमान किसनलालजी वच्छावत मूथा की पत्नी गिलखीबाई रायचूर

२७ श्रीमान् माणकचंदजी चतुर की धर्म पत्नी रतनबाई वेलूर
२८ ,, बोगीदासजी पोरवाल की धर्मपत्नी पानीबाई बैंगलोर
२९ ,, एम० कन्हैयालाल एन्ड ब्रदर्स समदड़िया ,,
३० ,, हीराचन्दजी सांखला की धर्मपत्नी भूरीबाई ,,
३१ ,, निहालचन्दजी घेवरचन्दजी भटेवरा वेलूर
३२ ,, विनयचन्दजी विजयराजजी भटेवरा ,,
३३ ,, गुलाबचन्दजी केवलचन्दजी भटेवरा ,,
३४ श्रीमती गुप्तदानी बहिन वेलूर
३५ श्रीमान् रामचन्द्रजी बांठिया की धर्मपत्नी पानीबाई ,,
३६ ,, बीजराजजी थाडीवाल की धर्मपत्नी मिश्रीबाई त्रिवेल्लूर
३७ ,, सम्पतराज एन्ड कम्पनी तिरपातूर
३८ ,, आशकरणजी चौरड़िया की धर्मपत्नी केसरबाई उलदूरपेठ
३९ ,, जुगराजजी खिवराजजी केवलचन्दजी बरमेचा श्री पेरमपुर
४० ,, नवलमलजी शम्भूमलजी चौरडिया मद्रास
४१ ,, मिश्रीलालजी पारसमलजी कात्रेला बैंगलोर
४२ ,, केसरीमलजी घीसूलालजी कटारिया ,,
४३ ,, मुल्तानमलजी चन्दनमलजी गरिया ,,
४४ ,, चुन्नीलालजी की धर्मपत्नी भूमीबाई ,,
४५ ,, अचलदासजी हमराजजी कह्वाड़ सिवनूर
४६ ,, एन० शान्तिलालजी बलदोटा पूना
४७ ,, भोडीरामजी विनायक्या की धर्मपत्नी रंगूबाई निफाड़
४८ ,, जुगराजजी मूथा की धर्मपत्नी पताशीबाई काठपाड़ी
४९ ,, डूंगरमलजी अनराजजी भीकमचन्दजी भँवरलालजी सुराणा मद्रास
५० ,, मिश्रीमलजी बोरा की धर्मपत्नी नेनीबाई बैंगलोर
५१ ,, केवलचन्दजी बोरा की धर्मपत्नी पार्वतीबाई ,,

२ श्रीमान् इमराजजी सुरलेचा की धर्मपत्नी मेहताववाई आलदूर (म.)
३ " जयवन्तराजजी भँवरलालजी चौरड़िया मद्रास
४ " निहालचन्दजी मगराजजी सांकला वेलूर
५ " लाला रामचन्द्रजी की धर्मपत्नी पार्वतीबाई हैदराबाद
६ " पुखराजजी लूकड़ की धर्मपत्नी गजराबाई बैंगलौर
७ " किशनलालजी फूलचन्दजी लूणिया "
८ " मिश्रीमलजी कात्रेला की धर्मपत्नी मिश्रीबाई "
९ " उमेदमलजी गोलेच्छा की सुपुत्री मिश्रीबाई हैदराबाद
१० " गाढमलजी प्रेमराजजी बाठिया सिकंदराबाद
११ " मुल्तानमलजी चन्दनमलजी सांकला "
१२ " जेठालालजी रामजी के सुपुत्र गुलाबचन्दजी (स्व० माता जवलबाई की स्मृति मे) "
१३ " गुलाबचन्दजी चौथमलजी बोहरा रायचूर
१४ " जसराजजी शांतिलालजी बोहरा "
१५ " दौलतरामजी अमोलकचन्दजी धोका यादगिरी
१६ " मागीलालजी भंडारी मद्रास
१७ " हीराचन्दजी खिवराजजी चौरडिया "
१८ " किशनलालजी रूपचन्दजी लूनिया "
१९ " मागीलालजी बंसीलालजी कोटडिया "
२० " मोहनलालजी प्रकाशमलजी दूगड "
२१ " पुखराजजी मीठालालजी बोहरा पेरम्बूर "
२२ " राजमलजी शान्तिलालजी पोखरणा " "
२३ " ऋषभचन्दजी उदयचन्दजी कोठारी " "
२४ " आर. जेतारामजी कोठारी " "
२५ " जवानमलजी सुराणा की धर्मपत्नी मायाबाई आलन्दूर "
२६ " मिश्रीमलजी रांका की धर्मपत्नी मिश्रीबाई पुदूपेठ "

७० श्रीमान् भागचन्दजी दगडुलालजी पगारिया धरणगाँव (पू खा.)
७१ ,, अमोलकचन्दजी मोतीलालजी पगारिया " ,,
७२ ,, सुखलालजी दगडूरामजी ओस्तवाल, पिपलगाँव बखारी नासिक
७३ ,, स्व० फूलचन्दजी गोलेछा की धर्मपत्नी रगुबाई चाहर्डी (पूखा.)
७४ ,, लालचन्दजी कमलराजजी बागमार रायचूर
७५ ,, मदनलालजी नेमीचन्दजी पारख नासिक सिटी
७६ ,, कस्तूरचन्दजी पारख की धर्मपत्नी सौ गगाबाई बरखेडे (नासिक)
७७ ,, किशनलालजी चुन्नीलालजी गांका (स्व श्री मिश्रीलालजी के स्मरणार्थ) ताराहाबाद नासिक
,, भिकचन्दजी मोतीलालजी कांकरिया " ,,
७९ ,, ताराचन्दजी राजमलजी कांकरिया " ,, (स्व श्री कपूरचन्दजी के स्मरणार्थ)
८० ,, स्व छगनलालजी पारख की धर्मपत्नी चांदाबाई नासिक
८१ ,, स्व वनेचन्दजी के स्मरणार्थ श्रीमान् भुवरलालजी की मातुश्री श्रीमती चम्पाबाई पगारिया पाथर्डी नासिक
८२ ,, जैन दिवाकर मडल हस्ते श्री दगडूलालजी गांधी सुकेणे
८३ ,, कल्याणजी बछराजजी ह श्री प्राणजीवनजी वछराजजी मालेगाँव (नासिक)
८४ ,, धरमचन्दजी रिधकरणजी मोदी उमराणे (नासिक)
८५ ,, धोंडीरामजी की धर्मपत्नी श्रीमती जमनाबाई की तरफ से हस्ते श्री रतनलालजी ओस्तवाल उमराणे (नासिक)
८६ श्रीमती नाजूबाइ भ्र ताराचन्दजी बाफणा ढोलनाथा (धूलिया
८७ स्व मुनिश्री मुल्तान ऋषिजी म० सा० की स्मृति में श्रीमान् शकरलालजी मोतीलालजी दुगड़ वडनेर

५२ श्रीमान् मुन्नालालजी शंकरलालजी जैन साम्फलम्-मद्रास
५३ ,, वक्तावरमलजी गादिया की धर्मपत्नी गंगाबाई ,,
५४ ,, अमरचन्दजी मरलेचा की धर्मपत्नी चौथीबाई
पल्लावरम्-मद्रास
५५ ,, गोविन्दराम सोहूराम ट्रस्ट की ओर से
(सेक्रेटरी श्री दीपचंदजी सचेती) धूलिया
५६ ,, स्व० रूपचन्दजी भंसाली धर्मपत्नी श्री जतनबाई
फतेपुर
५७ ,, (स्व० श्री अनराजजी जवाहरमलजी भँडलेचा के स्मरणार्थ) श्रीमान बन्सीलालजी मेवराजजी भँडलेचा
फतेपुर
५८ ,, हीरालालजी मोतीलालजी भलगट गुलबर्गा
५९ ,, भिकचन्दजी लालचन्दजी बूरड़ (महावीर स्टोर)
पिपलगाँव (बसत)
६० ,, मूलचन्दजी माणकचन्दजी चोपडा ,,
६१ ,, स्व० लच्छीरामजी भडारी की धर्मपत्नी श्रीमती
तुलसाबाई नान्दुर्डी (नासिक)
६२ श्रीमती मातुश्री स्व. राजीबाई भ्र. मिश्रीलालजी छाजेड़ की
पूज्य स्मृति में छाजेड़ बन्धु धूलिया
६३ श्रीमान् पन्नालालजी छल्लाणी की धर्मपत्नी सौ पतासाबाई वडेल
६४ ,, गुप्तदानीजी नासिक जिला
६५ ,, हिम्मतलालजी पवनलालजी संचेती (देवला) रामसर
६६ ,, कन्हैयालालजी नेमीचन्दजी लोढ़ा मैसूर
६७ ,, चम्पालालजी छगनलालजी चौरड़िया मुकने (नासिक)
६८ श्रीमती धापूबाई भ्र हंसराजजी रांका नासिक सिटी
६९ श्रीमान् मूलचन्दजी गुलराजजी बोहत्तरा वाणिया विहीर
(प खा)

दिशा मे हो रहा है-प्रद्युम्नचरित्र, सोलह सतियो को अलग-अलग जीवनियाँ आदि इसके प्रमाण हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी इसी दिशा में अगला कदम है।

जैनाचार्य पूज्य श्री की उपर्युक्त श्रेष्ठ कृति को "धर्मवीर जिनदास" के रूप में प्रकाशित करने का उद्देश्य केवल यही है कि उसमें वर्णित उपदेशात्मक सद्विचारो का लाभ उठाने से समाज वञ्चित न रहे। वैसे तो "जिनदास सुगुणी" अलग से भी प्रकाशित हो चुकी है, जिससे कि ढालप्रेमी सज्जन पूज्य श्री की मूलकृति का रसास्वादन कर सकें।

ग्रन्थ की महत्ता का अनुमान तो केवल इसी बात से लग सकता है कि प० मुनि श्री कल्याण ऋषिजी म० सा० जैसे सुयोग्य विचक्षण महात्मा की पवित्र प्रेरणा और सूचनाओ के अनुसार प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के द्वारा इस ग्रन्थ के मूल-भावो को सुरक्षित रखते हुए हिन्दी गद्य में भाषान्तर करवाया गया है। समाज ने इसे अपनाया। प्रथमावृत्ति की पुस्तकें समाप्त हो गई है। अधिक माग के लक्ष मे रखकर द्वितीय आवृत्ति प्रकाशित की गई है।

—कन्हैयालाल छाजेड़

सेक्रेटरी.—

श्री अमोल जैन ज्ञानालय

धूलिया (महाराष्ट्र)

निवेदन

प्रिय पाठकवृन्द !

एक ज़माना था, जब ढालो मे लिखे गये चरित्रो को श्रद्धा से पढने मे जनता की रुचि थी और ऐसे ही समय मे समयानुकूल समझ कर बालब्रह्मचारी शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य पू० श्री अमोलक ऋषिजी महाराज ने जिनदास और सुगुणी की आदर्श जीवनी की रचना ढालो के माध्यम से सुमधुर सरल भाषा में प्रकट की थी। किन्तु आज ज़माना बदल गया है।

आज तो केवल नाटक, प्रहसन और उपन्यासो ने ही जनता की दृष्टि को अपनी ओर आकर्पित कर रक्खा है। उनमे वर्णित ममता-वर्द्धक वर्णनो के द्वारा समाज का झुकाव दिन प्रतिदिन विलास की ओर बढता जा रहा है। इसकी रोक थाम जरूरी है और इसके लिये जरूरी है—प्राचीन ढालो मे वर्णित सच्चरित्रो का गद्यात्मक ढग से आधुनिक हिन्दी मे रूपान्तर! तथा ऐसे ही रूपान्तरो का अधिक से अधिक सख्या मे तेजी से प्रकाशन।!

स्मरण रहे कि हमारी प्रकाशन-सस्था "श्री अमोल जैन ज्ञानालय-धूलिया" का प्रयत्न पिछले कई वर्षों से इसी

बुधवार, स्थान इन्दौर, सर सेठ हुक्मीचदजी की नसिया मे।

८ बृहत् साधु सम्मेलन–अजमेर सवत् १९९० चैत्र शुक्ला १० बुधवार को सम्मिलित हुए ।

९ विहार क्षेत्र–दक्षिण भारत, हैदराबाद स्टेट, कर्नाटक, बैंगलोर, मैसूर स्टेट, महाराष्ट्र प्रदेश, खानदेश, मध्य प्रदेश, बरार, बबई प्रदेश, गुजरात, कच्छ, काठियावाड, मालवा, मेवाड, मारवाड, गोरवाड, दिल्ली, पजाब, शिमला आदि आदि ।

१० सयम काल पूर्ण वैराग्यमय, कर्मण्यतामय, और साहित्य-सेवा करते हुए सानद व्यतीत किया । आपश्री बाल ब्रह्मचारी थे, सभी सप्रदाय के सत समुदाय और श्रावक वर्ग पूज्य श्रीजी के प्रति समान भाव से प्रेम, सहानुभूति, भक्ति और आदर रखते थे । आप शात दात और क्षमाशील थे । अपने युग मे आपश्री एक आदर्श--साधु के रूप मे विख्यात तथा सम्मानित थे ।

११ साहित्य सेवा--आपश्री द्वारा अनुवादित, सपादित, लिखित और सग्रहीत एव रचित ग्रथो की सख्या १०२ है जिनकी कुल प्रतियाँ १७६३२५ प्रकाशित हुई । कुल ग्रथो की मूल प्रेस कॉपी के पृष्ठो की सख्या पचास हजार जितनी है ।

१२ दीक्षित शिष्य--आप द्वारा दीक्षित सतो की याने खुद के शिष्यो की सख्या १४ है ।

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

बाल ब्रह्मचारी, श्रीमज्जैनाचार्य स्वर्गीय पूज्य
श्री अमोलक ऋषिजी महाराज संबंधी

संक्षिप्त जीवन-परिचय

१ जन्म स्थान–भोपाल (मालवा)

२ माता पिता नाम–सुश्री हुलासाबाई और श्री केवलचदजी कासटिया, (ओसवाल वडे साथ)।

३ जन्मतिथि–सवत् १९३३ भाद्रपद कृष्णा ४ दिन के ९ वजे।

४ दीक्षा ग्रहण तिथि–सवत १९४४ फाल्गुन कृष्णा २ गुरुवार स्थान–आष्टा (भोपाल)।

५ दीक्षा के समय आयु–वर्ष ११, महीना ५ और दिन २७।

६ वत्तीस शास्त्र अनुवाद कार्य–सवत् १९७२ के कार्तिक शुक्ला ५ गुरुवार, पुष्य नक्षत्र, स्थान–हैदराबाद। और कार्य समाप्ति–तीन वर्ष और पन्द्रह दिन याने स १९७५ मगसर वदी ५।

७ आचार्यपद महोत्सव तिथि–सवत् १९८९ ज्येष्ठ शुक्ला १२

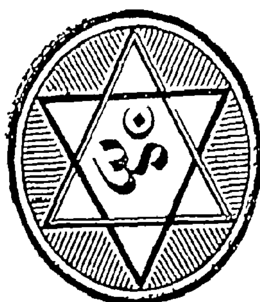
१३ सयम काल-पूज्य श्रीजी ने ४८ वर्ष ६ महीना और १२ दिन तक साधु--जीवन की याने सयमकाल की परिपालना की ।

१४ पुण्य तिथि-सवत् १९९३ के दूसरे भाद्रपद कृष्णा १४ तदनुसार तारीख १३--९--१९३६ की रात्रि के ११॥ बजे धूलिया (पश्चिम खानदेश) मे समाधिपूर्वक एव शाति के साथ स्वर्गवास किया । इस समय पूज्य श्रीजी की आयु ६० वर्ष और ९ दिन की थी ।

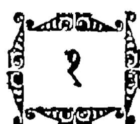
नोटः—चरित्र--नायक पूज्य श्रीजी के पिता श्रीजी केवलचन्दजी ने भी दीक्षा ग्रहण की थी, और वे "तपस्वी श्री केवल ऋषिजी" के नाम से जैन समाज मे विख्यात और पूजनीय हुए ।







धर्मवीर जिनदास



विषय प्रवेश



न सा दीक्षा न सा भिक्षा, न तद् दानं न तत्तपः ।
न तद् ध्यानं न तन्मौनं, दया यत्र न विद्यते ॥

वह दीक्षा दीक्षा नहीं, वह भिक्षा भिक्षा नहीं, वह दान दान नहीं, वह तप तप नहीं, वह ध्यान ध्यान नहीं, और वह मौन मौन नहीं, जिसमे दया का समावेश न हो। तात्पर्य यह है कि यदि हृदय मे दया का वास नहीं है तो शास्त्रविहित उच्च से उच्च कोटि का अनुष्ठान भी निरर्थक है।

'दया धर्म का मूल है' यह उक्ति लोक मे प्रसिद्ध है। यह उक्ति भारतवर्ष की प्राचीन एवं प्रशस्त विचारधारा की प्रतीक है।

नहीं होती। इसी प्रकार दया के अभाव में सब धर्मक्रियाएँ मिल कर भी आध्यात्मिक शत्रुओं को जीतने में कार्यकारी नहीं होतीं। दया का माहात्म्य वाणी के अगोचर है। दया की दया से इहलोक भी सुखमय बन जाता है और परलोक भी सुधर जाता है। दया के प्रभाव से सभी अनिष्ट दूर हो जाते हैं, सब संकट कट जाते हैं और सभी अभीष्टों की सिद्धि होती है। यथार्थ ही कहा है—

आयुर्दीर्घतरं वपुर्वरतरं गोत्रं गरीयस्तरम्,
वित्तं भूरितरं बलं बहुतरं स्वामित्वमुच्चैस्तरम्।
आरोग्यं विगतान्तरं त्रिजगति श्लाघ्यत्वमल्पेतरम्,
संसाराम्बुनिधिं करोति सुतरां चेतः कृपार्द्रान्तरम्॥

अर्थात्—जिसका चित्त दया से आर्द्र होता है, उसे खूब लम्बी आयु प्राप्त होती है, अतिशय सुभग शरीर प्राप्त होता है, उच्चतर गोत्र की प्राप्ति होती है, विपुलतर वैभव उसके चरणों में लोटता है, वह अत्यन्त प्रबल बल प्राप्त करता है, उच्चश्रेणी की प्रभुता पाता है, निरन्तर रहने वाली नीरोगता प्राप्त करता है, तीनों लोकों में महान् प्रशंसा पाता है और संसार-सागर को सरलता से पार करने योग्य अपने आपको बना लेता है।

दया की यह महिमा है। दया देवी के प्रसाद से मनुष्य का इह-परलोक तो महत्त्वपूर्ण बनता ही है, साथ ही मुक्ति भी प्राप्त होती है। इस प्रकार संसार में कोई भी ऐसी अभीष्ट वस्तु नहीं जो दया से प्राप्त न हो सके। कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न भी जो कुछ देने में असमर्थ हैं, वह भी दया से अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

दया ही देवो और दानवो मे भेद करती है। जिसके दिल मे दया नहीं वह दानव है और जिसके हृदय मे दया का शुचितर प्रवाह बहता रहता है वह देव है। दया अन्तःकरण की वक्रता को नष्ट करके सरलता उत्पन्न करती है। क्रूरता का अन्त करके कोमलता को जन्म देती है। दया चित्त में भाँति-भाँति के सद्गुण रूपी सौरभपरिपूर्ण सुमनो का विकास करती है। मनुष्य के जीवन को पवित्र और प्रशस्त बनाने वाली है। नृशस से नृशस और भयकर से भयकर प्राणी भी दया के प्रताप से मैत्री और करुणा का सागर बन जाता है।

प्रतिदिन छह पुरुषो और एक नारी की हत्या करने वाला निर्दय अर्जुन माली कैसे परम-दयालु बन गया ? किसके प्रभाव से वह विश्व-मैत्री का परमाराधक बन कर परमात्मपद को प्राप्त कर सका ? वह दया का ही परम प्रताप था। दया-देवी की उपासना करके वह दानव से महादेव बना। दूसरो को सताने वाला इतना सहनशील बन गया कि दूसरो द्वारा सताये जाने पर भी वह समताभाव में ही स्थित रहा।

तो जो दया-देवी अर्जुन माली जैसे पतितात्मा को भी परमात्मा की पक्ति मे पहुचा देती है, उसका माहात्म्य वर्णन करने की शक्ति किस मे है ?

प्रश्न किया जा सकता है कि जिस दया का इतना अधिक माहात्म्य है और जिसमे इतना अधिक प्रभाव है, उसका स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है.—

परस्मिन् बन्धुवर्गे वा, मित्रे द्वेष्ये रिपौ तथा।
आत्मवद्वर्त्तितव्य हि, दयैषा परिकीर्तिता॥

अर्थात्—हम अपने बन्धु-बान्धव आदि स्वजनों के प्रति जैसा व्यवहार करना चाहते है, वैसा ही व्यवहार पराये समझे जाने वालों पर भी करें, जैसा मित्रों के साथ वर्त्ताव करते है, वैसा ही शत्रुओं पर भी करें, अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति समता की भावना रखना और समान भावना से वर्त्ताव करना ही दया है।

यह दया का सामान्य लक्षण दिखलाया गया है। इस लक्षण मे दया के सभी विशेप लक्षणों का समावेश हो जाता है। जैसे हम आत्मीय जनों को सकट मे पडा देखकर उनके सकट को अपना ही सकट समझते हैं और उसे निवारण करने को उद्यत होते हैं, उसी प्रकार किसी भी अपरिचित, यहाँ तक कि अपने शत्रु के सकट को भी दूर करने के लिए उद्यत हो जाएँ तो समझना चाहिए कि हमारे दिल मे दया का वास है। सच्चा दयावान् पुरुष स्वय तो किसी पर सकट लादेगा ही नही, दूसरे कारणों से आये हुए सकटों को देख कर भी चुपचाप नही बैठा रहेगा। वह दूसरे के सकट को अपना ही सकट समझेगा। जैसे अपने ऊपर कष्ट आने पर मनुष्य व्याकुल हो जाता है और उसकी उपेक्षा नहीं करता, इसी प्रकार दयालु पुरुप परकीय कष्ट को देखकर भी व्याकुल हो जाता है और उसे दूर करने के लिए सचेष्ट होता है। इस प्रकार की वृत्ति जब सहज बन जाय तो समझना चाहिए कि हमारा अन्तस्तल दया के अमृत से परिपूर्ण हो गया है। यह सब दयालुता के लक्षण है।

मगर दयालुता की सीमा यहाँ समाप्त नही हो जाती। दयावान् का हृदय इतना कोमल और विमल हो जाता है कि वह स्वय महान् से महान् दु:ख झेल कर भी दूसरो को दु:ख से मुक्त

करने का प्रयत्न करता है। यह कोटि दया की उच्च कोटि है। हमारे शास्त्रो मे इस उच्च कोटि की दया के अनेक उदाहरण विद्यमान है। राजा मेघरथ ने कबूतर के प्राणो की रक्षा के लिए अपना शरीर काट-काट कर दे दिया, अन्त मे सारा शरीर ही समर्पित कर दिया था।

धर्मरुचि अनगार को हम कैसे विस्मृत कर सकते है, जिन्होने चिउटियो की प्राण रक्षा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करके परमदया का स्पृहणीय आदर्श हमारे सामने खडा किया है?

और वह मेतार्य महामुनि? वह जन्म से अन्त्यज होकर भी कर्म से महान् आर्य थे। उन्होने भी एक मुर्गे की रक्षा के लिए घोर-अतिघोर व्यथा सहन की। अन्त मे प्राणो का उत्सर्ग कर दिया।

शास्त्रो मे दया के ऐसे अनेक उत्कृष्ट उदाहरण भरे पड़े हैं यह उदाहरण हमारे लिए बहुमूल्य विरासत हैं और आर्य जाति के लिए पवित्र प्रेरणा प्रदान करने वाले महामन्त्र है।

आशय यह है कि मनुष्य की अन्तरात्मा जब दया की दिव्य ज्योति से देदीप्यमान होती है, तब उसमे से अविवेक, अज्ञान, भ्रम और मूढता आदि का अधकार दूर हो जाता है। वह 'सव्वभूयप्पभूअ' अर्थात समस्त आत्माओ को अपनी ही आत्मा के समान समझने लगता है। जब यह सर्वभूतात्मभूत-वृत्ति मनुष्य मे आती है, तभी उसमे अहिंसाका आविर्भाव होता है।

अहिंसा का भाव इतना व्यापक है कि उसमे सभी कर्त-व्यों का समावेश हो जाता है। कहा भी है —

अहिंसा परम दानमहिंसा परमो दम ।
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा पर पदम् ॥
अहिंसा परम ध्यानमहिंसा परम तप. ।
अहिंसा परम ज्ञानमहिंसा परम पदम् ॥

अर्थात्—दान, इन्द्रियदमन, यज्ञ, ध्यान, तप, ज्ञान और धर्म आदि सब अहिंसा-स्वरूप ही है। प्रत्येक धर्म क्रिया का प्राण अहिंसा है। जैसे प्राणहीन शरीर निकम्मा है, उसी प्रकार अहिंसाहीन धर्मानुष्ठान व्यर्थ है। अहिंसा का अर्थ कितना व्यापक है, यह जानने के लिये प्रश्न व्याकरण सूत्र का प्रथम संवरद्वार पठनीय है। वहाँ अहिंसा का व्यापक स्वरूप प्रदर्शित करने के लिये सूत्रकार ने उसके लिए साठ पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग किया है। उत्तम शब्दो मे वहाँ अहिंसा की प्रशस्ति की गई है। बतलाया गया है कि क्या देवो और क्या मनुष्यो के लिए अहिंसा ही शरणाभूत, त्राणभूत और आधारभूत है।

प्रश्न व्याकरण मे अहिंसा के लिए कुछ उपमाओं का प्रयोग करते हुए शास्त्रकार कहते है—

"एसा सा भगवती अहिंसा, जा सा भीयाण विव सरण, पक्खीण पिव गगण, तिसियाण पिव सलिल, खुहियाण पिव असण, समुद्दमज्झेव पोतवहण, चउपयाण व आसमपय, दुहट्ठियाण च ओसहिबल, अडवीमज्झे विसत्थगमण, एत्तो विसिट्ठतरिका अहिंसा, जा सा पुढवि-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-वीय-हरित-जलचर थलचर-खहचर-तस-थावर-सव्वभूय खेमकरी।"

अर्थात्—यह अहिंसा भगवती है। यह भयभीतो की रक्षको के समान रक्षा करने वाली, पक्षियो के लिए आकाश के समान, प्यासो को पानी के समान, भूखो को भोजन के समान, समुद्र के मध्य मे जहाज के समान, चौपायो के लिए आश्रम-स्थान के समान रोगियो को औषध के समान और अटवी मे भूले हुए को साथ मिल जाने के समान है। यह अहिंसा इन सब से बढ़कर है। यह पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, बीज-काय, हरितकाय, जलचर, स्थलचर, खेचर, त्रस, स्थावर-समस्त जीवो का क्षेम करने वाली है।

उपर्युक्त पाठ मे जो भाव दर्शाये गये है, वे एकदम स्पष्ट है। वास्तव मे, इस संसार मे, अहिंसा के अतिरिक्त और कोई शरण नही है। अहिंसा की बदौलत ससार मे सुख-शान्ति दृष्टि-गोचर होती है। यदि इस धराधाम के समस्त प्राणी हिंसक बन जाए तो ससार नरक से भी गया-बीता हो जाय। हमारा जीवन और हमारा अस्तित्व अहिंसा की ही कृपा का फल है।

अहिंसा का इतना महत्व होने पर भी कुछ लोग अहिंसा की व्यवहार्यता मे सन्देह किया करते है। वे कहते है—कहने को तो अहिंसा बहुत अच्छी है, परन्तु वह आचरण मे नही आ सकती। जीवन में पद-पद पर हिंसा करनी पडती है। अतएव अहिंसा का आचरण करना शक्य नही है।

ऐसे लोगो के भ्रम को दूर करने के लिए 'धर्मवीर जिन-दास' चरित की रचना की गई है। इस चरित मे एक अहिंसा-परायण दम्पति की कथा अंकित की गई है। इसे आद्योपान्त पढने से पाठक समझ जाएँगे कि गृहत्यागी साधुओं की तो बात

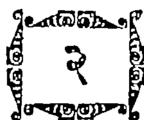
ही दूर, गृहस्थ भी यदि अपने व्यवहार मे सावधान और सतर्क रहे तथा शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करे तो उसके लिए भी अहिंसा का आचरण अशक्य नहीं है।

इस कथा से पाठक यह भी समझ सकेंगे कि सच्चे दयावान् एवं अहिंसक कठिन से कठिन अवसर पर भी किस प्रकार अहिंसा का पावन पल्ला पकड़े रहते है? और अन्त मे उन्हे किस प्रकार सुख और शान्ति की प्राप्ति होती हैं ?

गार्हस्थ्य दृष्टि से भी यह कथा अत्यन्त उपयोगी है। परिवार जब फूट, ईर्षा और द्वेष का अखाडा बन जाय तो अहिंसक को किस प्रकार इन दुष्प्रवृत्तियों का सामना करके प्रतिरोध करना चाहिए? किस प्रकार अपने उजड़े कुटुम्ब को फिर आबाद करना चाहिए? इन सब प्रश्नो का उत्तर पाठक इस कथा मे पाएँगे।

गृहिणियो के लिए इस कथा का बडा महत्व है। किस प्रकार गृहस्थी के कार्यों मे यतना करके पापो से बचाव किया जा सकता है? धर्मनिष्ट नर-नारियो का भोजन-पान, चौका-चूल्हा आदि किस प्रकार का होना चाहिए? इन सब बातो पर इसमे अच्छा प्रकाश डाला गया है। साराश यह है कि इसमे दया के सभी अगो का स्पष्टीकरण किया गया है और आदर्श गृहस्थ का नमूना उपस्थित किया गया है।





कथारम्भ



सभी ओर अनन्त-अनन्त अलोकाकाश के मध्य मे चौदह राजू लम्बा एक आकाशखण्ड है, जो लोकाकाश कहलाता है। इस आकाशखण्ड को लोकाकाश इसलिए कहते है, क्योकि इसमे आकाश के अतिरिक्त जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल आदि द्रव्यो की सत्ता है। आलोकाकाश कोरा-इतर द्रव्यो से शून्य आकाश है।

लोकाकाश का स्वरूप विशेष रूप से समझने मे सुविधा हो, इस आशय से लोक के तीन भाग कर दिये है-(१) ऊर्ध्वलोक अर्थात् ऊपर का लोक, (२) मध्यलोक अर्थात् बीच का लोक, (३) अधोलोक अर्थात् नीचे का लोक।

इस धरातल से नौ सौ योजन नीचे तक और नौ सौ योजन ऊपर तक का आकाश मध्यलोक कहलाता है। इससे ऊपर ऊर्ध्वलोक और नीचे अधोलोक है। हमारी कथा का सम्बन्ध मध्यलोक से है।

मध्यलोक मे एक दूसरे को घेरे हुए, आगे-आगे दुगुने-दुगुने विस्तार वाले गोलाकार असख्य द्वीप और समुद्र है। उन

मव के बीच मे, सब से कम विस्तार वाला अर्थात् एक लाख योजन विस्तृत जम्बूद्वीप है।

आगे के द्वीपो और समुद्रो की गोलाई चूडी के समान है, परन्तु जम्बूद्वीप की गोलाई थाली या झालर के समान है। इसके बीच-बीच मे, पूर्व से पश्चिम दिशा मे छह बड़े-बड़े पर्वत हैं, जिनके कारण यह द्वीप सात खण्डो मे विभक्त हो गया है। यही खण्ड सात वर्ष या क्षेत्र कहलाते हैं। इस द्वीप के ठीक मध्य मे सुमेरु पर्वत है। इसी पर्वत से दिशाओ का क्रम चालू होता है।

तो सुमेरु से दक्षिण दिशा की ओर भरतक्षेत्र है। यह तीन तरफ लवण समुद्र से घिरा है और एक तरफ हिमवान् पर्वत से। हमारी प्रस्तुत कथा का सम्बन्ध इसी भरतक्षेत्र के साथ है।

भरतक्षेत्र के बत्तीस हजार देशो मे मगध देश अत्यन्त सुहावना है। अनेक दृष्टियो से उसका महत्व है। यह वही मगध देश है, जिसमें भगवान् महावीर चरम तीर्थंकर ने जन्म धारण किया था। मगध ! हाँ, वही मगध, जहाँ से चरम तीर्थंकर की देशना देश-देशान्तर मे प्रसृत हुई, जहाँ जैन शासन के स्तम्भ स्वरूप अनेक सम्राटो ने अपना-सूर्य चमकाया और इस कारण जो भारतवर्ष के इतिहास मे अपना अद्वितीय स्थान रखता है।

मगध देश मे जिस समय का यह वृत्तान्त अंकित किया जा रहा है, उस समय महेन्द्रपुर नामक एक सुन्दर नगर था। यह नगर ऋद्धि-सिद्धि से सम्पन्न था। इसमें अनेक धनाढ्य श्रेष्ठी-गण निवास करते थे। नगर चहुँ ओर शहरपनाह से सुशोभित था। शहरपनाह मे चारो दिशाओ मे चार विशाल और सुदृढ़ गोपुर थे। नगर के बीच अनेक राजमार्ग थे। स्वचक्र का अथवा

परचक्र का वहाँ किसी प्रकार का भय नहीं था। अर्थात् वहाँ की प्रजा को न अपने राजा का भय था, न शत्रु राजाओं का भय था।

महेन्द्रपुर की नैसर्गिक श्री बड़ी ही मनोरम थी। जगह-जगह पुष्पों, पत्रो और फलो से विराजमान तरुओ वाले अनेक उद्यान थे। सागर की प्रतिस्पर्द्धा करने वाले अनेक सरोवर थे। सरोवरो का मधुर और निर्मल जल नगरनिवासियो के हृदय की मधुरता और विमलता का प्रतीक था। सरोवरो और उद्यानों के कारण सन्ध्या के समय दूर-दूर से पक्षीगण वहाँ आते थे, बसेरा लेते थे। और अपने मिसरी-सने कल-कलनाद से जनता का मनोरंजन करते थे। इस प्रकार महेन्द्रपुर नगर सब प्रकार की शोभा से सम्पन्न था और ऐसा जान पड़ता था, मानो स्वर्ग का एक भाग इस लोक में आकर बस गया है।

महेन्द्रपुर के राजा का नाम अरिजय था। वह धर्म-कर्म मे निपुण था। न्यायनीति का ज्ञाता और पालनहार भी था। दूध का दूध और पानी का पानी कर देता था। प्रचण्ड पराक्रम का धनी, अनुपम तेजोराशि से देदीप्यमान और प्रजा का सन्तान के समान पालन-रक्षण करने वाला था।

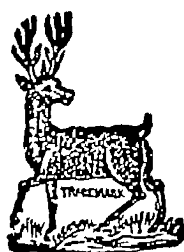
राजा अरिजय की पटरानी का नाम रूपश्री था। यह देवी यथा नाम तथा गुण वाली थी। रूप-श्री का भाण्डार थी। शीलवती, गुणवती, और दयावती थी। दान देने में उदार, महिलोचित लज्जा गुण से विभूषित और पतिव्रता थी। उसके अन्त.करण का सौन्दर्य, शरीर के सौन्दर्य से भी बढ़ कर था और शरीर का सौन्दर्य देवागनाओं को भी लज्जित करने वाला

था। राजा अरिजय को पुण्य के योग से ही रूपश्री जैसे रमणी-रत्न की प्राप्ति हुई थी। नीतिकार कहते हैं:—

अनुकूला विमलाङ्गी, कुलजा कुशला सुशीलसम्पन्नाम्।
एतादृशी सुभार्या, पुरुष पुण्योदयाल्लभते ॥

अर्थात्—पुण्य का उदय होने पर पुरुष को सुपत्नी की प्राप्ति होती है। और सुपत्नी वही है जो अपने पति के अनुकूल होकर बर्त्ताव करे, निर्दोष अगो वाली हो, अच्छे सुसस्कारी कुल मे जन्मी हो, गृहकार्य आदि मे कुशल हो और सुशीलवती हो।

अरिजय रूपश्री को पाकर प्रसन्न थे और रूपश्री न्यायनीतिनिष्ट और धर्म प्रिय पति को पाकर सन्तुष्ट थी।





सब दिन रहत न एक समान



महेन्द्रपुर नगर मे सभी वर्णों और सभी जातियों की जनता निवास करती थी। उसमे बहुत से पुण्यशाली, दानी, गुणी, दयावान् और विद्वान् जनों का आवास था। नगर के बाजारो मे ऐसी चहल पहल रहती थी कि अकस्मात् पहुँच जाने वाला व्यक्ति भी-अनायास ही वहाँ के व्यापारियो की समृद्धता का अनुमान लगा सकता था। वहाँ के बाजार अतीव सुन्दर बने थे। भवनो का तो कहना ही क्या है! विशाल एव व्योम-स्पर्द्धिनी अट्टालिकाएँ चित्त को बलात् अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी।

इसी महेन्द्रपुर मे सोहन साहू नामक एक सेठ भी थे। उनके पास प्रचुर धन-सम्पत्ति थी। वह गुणी आदमी भी थे। दाता भी थे और भोक्ता भी थे। किन्तु उनमे सबसे बडी जो त्रुटि थी, वह यही कि वह धर्म से अनभिज्ञ थे।

धर्म आगामी भव मे सुखदायी तो हैं ही, किन्तु वर्तमान जीवन को भी वह आनन्दमय, सुखमय, सन्तोषमय और शान्ति-

मय बना देता है। धर्मतत्त्व का ज्ञाता पुरुष विवेकशील हो जाता है। वह समझ लेता है कि जीवन मे किस पदार्थ को कितना महत्त्व देना चाहिए ? धन गृहस्थजीवन की अनिवार्य आवश्यक वस्तु हैं। उसके अभाव मे गृहस्थजीवन अत्यन्त दु खमय बन जाता है। यही नही, यदि जीवननिर्वाह के लिए पर्याप्त धन न हो तो गृहस्थ सर्वत्र अनादर का पात्र बनता है। समाज मे प्राय उसकी प्रतिष्ठा नही होती। उसका विकास भी रुक जाता है।

अनेक गृहस्थ विद्वान् ऐसे देखे गये है कि प्रारभिक अवस्था मे उनकी प्रतिभा का विकास तीव्र वेग के साथ हुआ, परन्तु जब उन पर परिवार का पूरा भार आकर पडा और उस भार को उठाने के लिए उनके पास पर्याप्त धन न हुआ तो उनकी योग्यता का विकास कुंठित हो गया। उनकी प्रतिभा मलिन हो गई।

तो गृहस्थजीवन मे धन का महत्त्वपूर्ण स्थान होने पर भी यह नही कहा जा सकता कि मानव-जीवन का सर्वोत्तम साध्य धन ही है। अगर कोई व्यक्ति धन को ही अपने जीवन का एक मात्र आराध्य समझ लेता है और धन के लिए झूठ, कपट, अन्याय, अनीति, बेईमानी करने मे सकोच नही करता तो उसका धन भी वृथा है। इसप्रकार धनवान् बनने और धन के भण्डार भर लेने की अपेक्षा न्यायनीति और सन्तोप के साथ निर्धनता-पूर्ण जीवन व्यतीत करना ही कही अच्छा है। तात्पर्य यह है कि जीवन मे धन का स्थान तो है, किन्तु उसकी भी एक मर्यादा है यह बात धर्म सिखलाता है। धर्मज्ञ पुरुष धर्म, अर्थ और भोग को यथोचित स्थान प्रदान करता है, जिससे कोई किसी का बाधक न बन सके। कहा भी है —

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते ।
अनर्गलमत. सौख्यमपवर्गो ह्यनुक्रमात् ॥

यदि धर्म. अर्थ और काम (भोग) पुरुषार्थ का आपस मे विरोध न करते हुए सेवन किया जाय तो निर्बाध आनन्द की प्राप्ति होती है और अनुक्रम से चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष भी प्राप्त किया जा सकता है।

तीन पुरुषार्थों का परस्पर अविरोध से किस प्रकार सेवन किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि धनोपार्जन करते समय और भोग भोगते समय ध्यान रक्खा जाय कि कहीं धर्म मे व्याघात न हो जाय? धन के लिए धर्म को न गँवा दे और कामभोगो मे आसक्त होकर धर्म का उल्लंघन न करे। अर्थात् गृहस्थधर्म की मर्यादाओ को ध्यान मे रख कर तथा उनका पूर्ण रूप से पालन करते हुए ही गृहस्थ अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करने का अधिकारी हो सकता है। इसी प्रकार गृहस्थी के उत्तरदायित्व को अपने कधो पर रखते हुए धर्म की आराधना भी इस तरह न करे कि उक्त दोनो पुरुषार्थो मे बाधा पडे। हाँ. जब धर्म की विशिष्ट आराधना करनी हो तो उस उत्तरदायित्व का परित्याग कर दे और अनगार बन जाय। धन के अनुरूप भोग भोगना और भोगो के अनुरूप धनोपार्जन करना भी गृहस्थ-जीवन की सफलता के लिए आवश्यक होता है। जो गृहस्थ अपने सुख के लिए पानी की तरह पैसा व्यय करता है. किन्तु जितना व्यय करता है. उतना उपार्जन नही करता. वह किसी न किसी दिन घोर संकट मे पडे विना नही रहता। इसके विपरीत जो धनोपार्जन में निरन्तर लगा रहता है किन्तु उसका उपभोग किंचिन् भी नही करता. उसका धनोपार्जन निरर्थक ही हो जाता है

अभिप्राय यह है कि गृहस्थ धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ में से एक के द्वारा दूसरे को बाधित न होने दे। इसी मे गृहस्थ-जीवन की सफलता है।

उपर्युक्त विवेक धर्म के तत्त्व को समझने से ही आता है। जो धर्म के रहस्य को नही समझता, वह अपने गृहस्थ-जीवन को भलीभाँति सफलता के साथ व्यतीत नही कर सकता।

सोहन साहू, जिनका अभी उल्लेख किया गया है, धर्म के तत्त्व को नहीं जानते थे। इस कारण वह धर्म की परछाई से भी दूर रहते थे और रात-दिन धनोपार्जन मे ही मग्न रहते थे।

सोहन साहू की पत्नी भाग्यवती थी, शीलवती थी और सुन्दरी भी थी। उसे ससार के सुखो की सभी सामग्री प्राप्त थी। किसी बात की कमी न थी। कमी थी तो यही कि उसकी गोद सूनी थी। स्त्री के सब सुख एक तरफ और सन्तान का सुख दूसरी तरफ करके तोला जाय तो संतान-सुख का पलड़ा ही भारी रहेगा। सन्तान के अभाव मे नारी अपने सब सुखो को तुच्छ समझती है। वह अपने जीवन को निष्फल और भार रूप अनुभव करती है।

नारी की इतनी प्रबल सन्तति-लालसा का रहस्य क्या है? कहना कठिन है। फिर भी यह तो सत्य ही है कि सन्तान के अभाव मे तीन लोक का राज्य भी उसे सुख की अनुभूति नहीं करा सकता। सोहन साहू की पत्नी इसका अपवाद नही थी। वह भी सतान के लिए बड़ी लालायित थी और सोचती थी कि न जाने कब वह दिन आएगा जब मेरी सूनी गोद भर जाएगी।

आखिर एक दिन दैवयोग से उसकी कामना सफल हुई। वह गर्भवती हो गई। पति-पत्नी के हर्ष का पार न रहा। उन्होंने अपने वैभव के अनुरूप 'आगरणी' का उत्सव मनाया। अपने बन्धु-बान्धवों को आमंत्रित किया और सब का भोजन आदि से यथोचित सत्कार किया।

संसारी जीव धन और सन्तान में सुख की कल्पना करते है, परन्तु बहुत कम लोग जानते है कि सुख का असली हेतु क्या है ? ज्ञानीजनो का कथन है कि सुख का मूल पुण्य है। अगर पुण्य का योग है तो धन सुखप्रद हो सकता है और सन्तान भी आनन्ददायक हो सकती है, अगर पुण्य का उदय न हुआ तो यही वस्तुएँ उलटे दुःख का निमित्त बन जाती है।

सोहन सेठ की पत्नी के उदर मे जो जीव आया था, वह पुण्य की पूंजी लेकर नही, पाप का पुंज लेकर आया था। उसके पाप का प्रभाव तत्काल दृष्टिगोचर होने लगा। व्यापार के निमित्त समुद्र मे गया हुआ उसका एक जहाज डूब गया। उसमे एक करोड़ का माल लदा था।

सेठ को जहाज के डूबने का समाचार मिला। बड़ी जबर्दस्त आर्थिक हानि थी। परन्तु इस समय सेठ पुत्र-प्राप्ति के आनन्द मे मगन थे। अतएव वह हानि भी उन्हे दुखी न कर सकी। सेठ ने सोचा—करोड़ का माल चला गया तो चला गया ! मेरे पास बहुत सम्पत्ति है। मेरे यहाँ पुत्र का जन्म होगा तो वह बहुत बड़ा लाभ हो जाएगा। बेटा बड़ा होगा, कमाएगा और उस समय सब कसर पूरी हो जाएगी।

मगर आर्थिक हानि का जो सिलसिला चालू हुआ तो वह रुका नहीं। चलता ही रहा। सेठ ने जब जो व्यापार किया, उससे हानि ही हुई। एक ओर गर्भ बढ रहा था और दूसरी ओर आर्थिक हानि बढ़ रही थी। फिर भी सेठ ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। पुत्र की लालसा की पूर्ति के आगे आर्थिक क्षति उसके लिए किसी गिन्ती में नहीं थी।

धीरे-धीरे गर्भ का काल पूरा हुआ। नौ महीने बीत गये। तब एक दिन पुत्र का जन्म हो गया। जिस दम्पती को पुत्र-प्राप्ति की प्रबलतर लालसा हो, उसे पुत्र प्राप्त होने पर कितनी प्रसन्नता होती है, यह तो वही जान सकते है, जिन्हे अपने जीवन मे ऐसा प्रसङ्ग आया हो।

सोहन साहू को प्रसन्नता की सीमा न थी। वह हर्ष की हिलोरों पर नाचने लगे। मारे खुशी के जमीन पर उनके पाँव नहीं पड़ते थे। उन्होने दिल खोल कर गरीबो को दान दिया। मङ्गल-वाद्य बजवाए। खूब ठाट के साथ पुत्रजन्म का उत्सव मनाया गया, ज्ञातिजनो को न्यौता भेजा और प्रेम से भोज दिया। सेठ के यहाँ यह पहली ही सन्तान थी और वह संतान पुत्र के रूप में थी। अतएव सब लोगो ने सेठ को बधाइयाँ दी और नवजात शिशु को आशीष दिये। शिशु बहुत 'आवड' से उत्पन्न हुआ था, अतएव सब के सामने उसका नाम रक्खा गया 'आवडकुमार।' नामकरण संस्कार के अनन्तर सब लोग यथा-स्थान चले गये। मोहन साहू न मालूम कितने मसूबे बाँधने लगे।

आखिर एक दिन दैवयोग से उसकी कामना सफल हुई। वह गर्भवती हो गई। पति-पत्नी के हर्ष का पार न रहा। उन्होने अपने वैभव के अनुरूप 'अगरणी' का उत्सव मनाया। अपने बन्धु-बान्धवों को आमन्त्रित किया और सब का भोजन आदि से यथोचित सत्कार किया।

संसारी जीव धन और सन्तान में सुख की कल्पना करते है, परन्तु बहुत कम लोग जानते है कि सुख का असली हेतु क्या है? ज्ञानीजनो का कथन है कि सुख का मूल पुण्य है। अगर पुण्य का योग है तो धन सुखप्रद हो सकता है और सन्तान भी आनन्ददायक हो सकती है, अगर पुण्य का उदय न हुआ तो यही वस्तुएँ उलटे दुःख का निमित्त बन जाती है।

सोहन सेठ की पत्नी के उदर में जो जीव आया था, वह पुण्य की पूंजी लेकर नही, पाप का पुंज लेकर आया था। उसके पाप का प्रभाव तत्काल दृष्टिगोचर होने लगा। व्यापार के निमित्त समुद्र मे गया हुआ उनका एक जहाज डूब गया। उसमे एक करोड़ का माल लदा था।

सेठ को जहाज के डूबने का समाचार मिला। बडी जबर्दस्त आर्थिक हानि थी। परन्तु इस समय सेठ पुत्र-प्राप्ति के आनन्द मे मग्न थे। अतएव वह हानि भी उन्हे दुखी न कर सकी। सेठ ने सोचा—करोड़ का माल चला गया तो चला गया! मेरे पास बहुत सम्पत्ति है! मेरे यहाँ पुत्र का जन्म होगा तो वह बहुत बड़ा लाभ हो जाएगा। बेटा बडा होगा, कमाएगा और उस समय सब कसर पूरी हो जाएगी!

मगर आर्थिक हानि का जो सिलसिला चालू हुआ तो वह रुका नहीं। चलता ही रहा। सेठ ने जब जो व्यापार किया, उससे हानि ही हुई। एक ओर गर्भ बढ रहा था और दूसरी ओर आर्थिक हानि बढ़ रही थी। फिर भी सेठ ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। पुत्र की लालसा की पूर्ति के आगे आर्थिक हानि उसके लिए किसी गिनती मे नहीं थी।

धीरे-धीरे गर्भ का काल पूरा हुआ। नौ महीने बीत गये। तब एक दिन पुत्र का जन्म हो गया। जिस दम्पती को पुत्र-प्राप्ति की प्रबलतर लालसा हो, उसे पुत्र प्राप्त होने पर कितनी प्रसन्नता होती है, यह तो वही जान सकते है, जिन्हे अपने जीवन मे ऐसा प्रसङ्ग आया हो।

सोहन साहू की प्रसन्नता की सीमा न थी। वह हर्ष की हिलोरों पर नाचने लगे। मारे खुशी के जमीन पर उनके पाँव नहीं पड़ते थे। उन्होने दिल खोल कर गरीबो को दान दिया। मङ्गल-वाद्य बजवाए। खूब ठाट के साथ पुत्रजन्म का उत्सव मनाया गया, ज्ञातिजनों को न्यौता भेजा और प्रेम से भोज दिया। सेठ के यहाँ यह पहली ही सन्तान थी और वह संतान पुत्र के रूप मे थी। अतएव सब लोगो ने सेठ को बधाइयाँ दी और नवजात शिशु को आशीष दिये। शिशु बहुत 'आवड' से उत्पन्न हुआ था, अतएव सब के सामने उसका नाम रक्खा गया 'आवडकुमार।' नामकरण सस्कार के अनन्तर सब लोग यथा-स्थान चले गये। सोहन साहू न मालूम कितने मंसूबे बाँधने लगे।

आवडकुमार दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। सेठानी और सेठ उसे देख कर अपने जीवन को कृतार्थ समझने लगे।

कुछ काल के पश्चात् सेठानी फिर गर्भवती हुई। सेठ को प्रसन्नता का एक नया आधार मिल गया। मगर गर्भ में आया हुआ नया-जीव भी आवडकुमार का ही भाई था- दुनियादारी के व्यवहार से ही नहीं, कर्मों के लिहाज से भी। जब से यह नया महापुरुष गर्भ में आया, सेठ को बड़ी आर्थिक क्षति होने लगी। सेठ की हालत दिन ब दिन बिगड़ती ही चली गई। जब सेठ बिगड़ने लगता है तो प्राय' स्वार्थी गुमाश्तो की तकदीर चमकती है। वे अवसर देख कर खूब हाथ साफ करते है। सोहन साहू के गुमाश्ते प्रामाणिक नहीं थे। कम से कम सेठ के पापकर्म के उदय के इस अवसर पर तो वे प्रामाणिक न रह सके। उन्होंने मौके से लाभ उठाया और गोल माल करके बहुत-सी पूंजी हड़प ली। व्यापार मे घाटा लग ही रहा था। एक दिन आया कि सोहन शाह की गद्दी उलट गई! दिवाला निकल गया। कर्जदारों ने सेठ की बची-खुची पूँजी पर अधिकार जमा लिया।

इस अवस्था में भी सेठ प्रसन्न था। वह वर्तमान की ओर से आँखे बन्द कर भविष्य के सपने देख रहा था। सोचता था— दु:ख किस बात का है! धन तो हाथ का मैल है! आता भी है, जाता भी है। मेरे एक लडका है, दूसरा और हो जाएगा। दो लडके क्या कम है? दोनो मिलकर क्या नहीं कर सकेंगे? चाहेंगे तो धन का ढेर लगा देंगे। मैं वृद्ध हो जाऊंगा तो लडके मेरी सेवा करेंगे। कोई कष्ट न होने देंगे।

हे आशे! तुम धन्य हो। तुम्हारा आधार पाकर न जाने कितने प्राणियो को आश्वासन मिलता है। तुम दुखिया जनों को,

जो जीवन से उकता गये हैं, जीने का आधार देती हो। अगर तुम न होती तो मनुष्य निराशा के चगुल मे फँस कर अपने प्राणो से ही हाथ धो बैठता। तुम्हारी कृपा से मनुष्य जीवन मे उत्साह, उमग पाता है, स्फूर्ति पाता है।

सोहन सेठ को स्मरण आया—धन चला गया है, मगर ऊपर-ऊपर का ही तो चला गया है। जमीन मे गाडा हुआ धन अब भी मेरे पास बहुत है। वह ऐसे ही गाढे समय के लिए पृथ्वी माता की गोद मे रख दिया था। अब उसे निकाल कर काम में ले लूगा।

यह स्मरण आते ही सोहन सेठ ने उसे खोदने का उपक्रम किया। कुदाल लेकर वह स्वय भिड गया। बाप-दादाओं के द्वारा सचित धन जिस जगह गड़ा था, उस जगह को खोद कर उसने जो देखा तो उसकी छाती बैठ गई। धन की जगह कोयले मिट्टी और पानी दिखाई दिया। थोडी देर के लिए उसकी आँखो के आगे अधेरा छा गया। उसे असीम निराशा हुई।

पाप का उदय आने पर सभी कुछ विपरीत हो जाता है। सुख के कारण भी दु:ख के कारण बन जाते हैं। फूलो की माला भी सर्प का रूप धारण कर लेती है। कहा भी है—

अमृत कालकूट स्यात्, मित्र शत्रु सुधीरधी।
सज्जनो दुर्जन पापाद्विपरीत फल त्विह ॥

अर्थात्—पाप के परिपाक से अमृत भयानक कालकूट विप बन जाता है, मित्र शत्रु हो जाते हैं, बुद्धिमान् निर्बुद्धि हो जाता है और सज्जन भी दुर्जन का रूप धारण कर लेता है।

सेठ ने अपने धन को जब कोयले के रूप से देखा तो समझ गया कि अभी दिन उलटे हैं। फिर भी उसने सान्त्वना प्राप्त की। थोडे ही दिनो मे उसकी पत्नी ने द्वितीय पुत्र का प्रसव किया। इस पुत्र के गर्भ मे आने पर सारा धन चला गया था, अतएव सेठ ने इसका नाम 'जावडकुमार' रक्खा।

इसी प्रकार सेठानी ने तीसरी बार गर्भ धारण किया। तीसरा पुत्र भी ऐसा ही आया। इसके गर्भ मे आते ही घर में आग लग गई। वस्त्र आदि ऊपरी सामग्री जो रह गई थी, वह भी स्वाहा हो गई। अभी तक सोहन सेठ किसी प्रकार धीरज बाधे था, मगर घर मे आग लगने पर उसका धैर्य टूट गया। वह सोचने लगा—अब क्या होगा? अब सभी आशाएँ धूल मे मिल चुकी है। जीवननिर्वाह करना भी कठिन हो गया! सभी आधार नष्ट हो गए! हाय दैव! तू ने यह क्या दृश्य दिखलाया! कौन जाने किस पाप के उदय से मेरी यह दुर्गति हुई है!

मगर सोहन सेठ का यह विलाप निरर्थक था। इष्ट वस्तु का वियोग होने पर मोही जीव विलाप करते है, रुदन करते है, छाती और माथा ठोकते है, आँसू बहाते है। किन्तु इससे कोई लाभ नही होता। अलबत्ता, आर्त्तध्यान करने से नवीन पाप कर्म का बन्ध अवश्य होता है और उसका कुफल आगे फिर भुगतना पडता है।

जब मनुष्य सासारिक पदार्थों का सचय करता है, पर-पदार्थों को अपना बनाता है अर्थात् उन पर अपना ममत्त्व स्थापित करता है, तभी उसे जान लेना चाहिए कि यह पदार्थ वास्तव मे मेरे नही हैं, मैं इन्हे जबर्दस्ती अपने बना रहा हूँ।

अतएव यह सब मेरे नहीं रह सकते। किसी न किसी दिन इनका वियोग अवश्य भावी है। या तो यह मुझे छोड़ कर चले जाएँगे या मैं इन्हें छोड़ कर चला जाऊँगा। मनुष्य ऐसा समझ ले और सदा अपनी समझ को कायम रक्खे तो क्यों उसे उनके वियोग की व्यथा सहनी पड़े? क्यों आर्त्तध्यान करके अपनी आत्मा को मलिन करने का प्रसंग आवे? पर मनुष्य वस्तु-स्वरूप को भूल कर मोह में पड़ जाता है। भ्रान्ति के वशीभूत हो जाता है और इस कारण वियोग की पीड़ा का अनुभव करता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि सोहन सेठ धर्म से अनभिज्ञ थे। अतएव अपना सर्वस्व गँवा कर वह अब दुःख का अनुभव करने लगे। किन्तु उसका परिणाम शून्य में आया।

यथासमय तीसरे पुत्र का जन्म हुआ। यह पुत्र सेठ की सारी सम्पत्ति को खा गया था, अतएव उसका नाम 'खावड-कुमार' रक्खा गया।

क्षण-क्षण करके दिन, दिन-दिन करके मास, मास-मास करके वर्ष और वर्ष-वर्ष करके युग व्यतीत होते चले जा रहे हैं। काल का प्रवाह अबाध गति से बह रहा है। बड़े से बड़ा सम्राट्, यहाँ तक कि स्वर्ग का शक्तिशाली स्वामी शक्र भी काल की गति को पल भर भी नहीं रोक सकता। काल के प्रवाह में पड़े हुए सचेतन और अचेतन सभी पदार्थ नये से पुराने होते हैं, सड़ते हैं, गलते हैं और नष्ट हो जाते हैं। बालक, जवान और जवान, वृद्ध होकर काल के गाल में समा जाते हैं। सदैव से यही क्रम चलता आ रहा है और सदैव यही क्रम चलता रहेगा।

सोहन साहू के आवड, जावड और खावड बेटे धीरे-धीरे बढ़ने लगे। इधर सोहन साहू का परिवार बढा और उधर धन-सम्पत्ति का स्वाहा हो गया। घर मे पाँच प्राणी थे। उनका पालन-पोषण भी उनके लिए कठिन हो गया।

घर मे धन था तो सभी पूछते थे। सब सेठ साहब का सत्कार करते थे। सेठजी भगवान् का अवतार समझे जाते थे। परन्तु आज उन्हे कोई टके सेर नहीं पूछता था। यह दशा देख कर उन्हे पता चल गया था कि वह सन्मान, इज्जत और प्रतिष्ठा उनकी नहीं, धन की थी। जड़ के उपासक धन का सन्मान करते हैं।

सस्कृत भाषा में एक लोकोक्ति है—

छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।

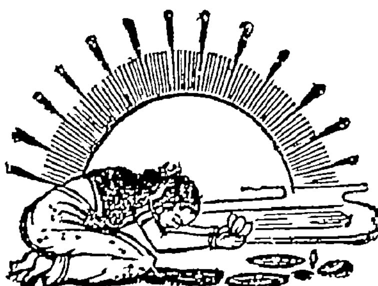
अर्थात्—जब एक गड बड होती है तो एक ही नही होती, उसके साथ अनेक गड़बड़ियां पैदा हो जाती हैं। एक आपत्ति के साथ अनेक आपत्तिया आ पड़ती हैं।

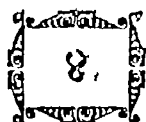
सोहन साहू के सम्बन्ध मे यही हुआ। जिन पर उनका लेना था वे सब बदल गये। मागने पर सब ने अँगूठा दिखला दिया, किन्तु लेनदार पीछे पड़ गये। वे सोहन सेठ पर ऐसे झपटे जैसे मरे ढोर पर गिद्ध झपटते हैं। उन्होंने सेठ को परेशान कर दिया। उनके पास जो भी बचा-खुचा था, सब नीलाम करा लिया। अब सोहन साहू—एक समय के करोड़पति सेठ, राह के भिखारी बन गये। नगर मे रहने को स्थान न रहा। पेट भरने को दाना न रहा। उनकी दशा देखकर अनायास मुख से निकल पड़ता था—

जीवन तन धन भवन न रहिहै, स्वजन प्राण छूटेगे,
दुनिया के सम्बन्ध विदाई की वेला टूटेगे ।
यह क्रम चलता रहा आदि से अब भी चलता भाई,
सयोगो का एक मात्र फल केवल सदा जुदाई ।।

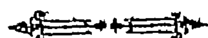
जब कोई उपाय न रहा तो पाँचों जन नगर के बाहर फूस की झोंपडी बना कर रहने लगे और तुच्छ व्यापार करके, जैसे-तैसे रूखी-सूखी खाकर अपने दिन व्यतीत करने लगे । कालक्रम से दो वर्ष इसी अवस्था मे व्यतीत हो गये ।

हो जल मे उत्पन्न जलज ज्यो जल से ही न्यारा है,
त्यो शरीर से भिन्न चेतना को भी निर्धारा है ।
तो दुनिया की अन्य वस्तुएँ कैसे होगी तेरी ?
समझ निराले आत्म रूप को, मत कह मेरी-मेरी ।।





पुण्य का बीजवपन



ग्रीष्म ऋतु अपने यौवन मे थी। आकाश से दिवाकर की प्रचण्ड किरणें आग उगल रही थी। धरती चूल्हे पर चढे तवे के समान तप रही थी। क्षितिज के एक किनारे से दूसरे किनारे तक आग्नेय लपटें तेजी के साथ दौड रही थी। मनुष्य अपने-अपने आवासो मे छिपे पड़े थे। कोई बाहर निकलने का नाम नहीं लेता था। पशुगण सघन वृक्षो की छाया का आश्रय लेकर विश्राम कर रहे थे। पक्षीगण की चहचहाट कहीं सुनाई नही पड़ती थी। सर्वत्र निस्तब्धता और नीरवता व्याप्त थी।

ऐसे भयानक समय मे मुनिराज धर्मोदय, अपने अनेक अन्तेवासियो के परिवार के साथ, वन की ओर से नगर की ओर बढे चले आ रहे थे। वह भी वन में किसी वृक्ष के नीचे दुपहरिया बिता सकते थे, पर शरीर भोजन और पानी चाहता था। वन मे, मुनि जनो के योग्य निर्दोष एव प्रासुक आहार-पानी कहाँ ? अतएव इस विकट अवसर पर भी उन्हे अपना पथ काटना पड़ रहा था।

पैरों में पादत्राण नहीं, सिर पर छतरी नहीं, बैठने को सवारी नहीं ! मुनियों का मार्ग बड़ा कठिन है। उस मार्ग पर कायर नहीं चल सकते। सुकुमारों की भी वहाँ गुजर नहीं। तीर्थंकर का आदेश है कि जिसे मुनियों के पथ के पथिक बनना है, उसे अपने आपको तपाना होगा और सुकुमारता को तजना होगा—

आयावयाही, चय सोगमल्लं।

अर्थात्—हे मुनि ! तू आतापना ले, सुकुमारता का परित्याग कर दे।

मुनिराज धर्मोदय तीर्थङ्कर के इसी मार्ग पर चल रहे थे। पाँव चल रहे थे, मगर उनकी गति में तीव्रता नहीं थी, घबराहट नहीं थी। वे 'दवदवस्स न गच्छेज्जा' अर्थात् मुनि भागता-दौड़ता नहीं चले, आगम की इस मर्यादा को ध्यान में रखकर ईर्या समिति के साथ, गम्भीर गति से चल रहे थे। मानो ग्रीष्म के सताप को उन्होंने अपने प्रबल आत्मबल से जीत लिया था। वे विमल भावनाओं के शान्त सरोवर में अवगाहन कर रहे थे या समता के अतल सागर में निमग्न थे। अतएव उन्हें ग्रीष्म का प्रखर ताप व्याकुल नहीं कर सकता था। जिसके अन्तस्तल में ताप नहीं होता, सम्भवतः बाहर का ताप उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। वह उलटा उनकी साधना में सहायक बन जाता है।

धर्मोदय ऋषि चलते-चलते सोहन साहू की झोंपड़ी के निकट आकर खड़े हो गए। मुनियों का गला प्यास से सूख रहा था। उनमें से कुछ मुनि सोहन साहू की झोंपड़ी के द्वार पर पहुँचे।

प्रासुक पानी की याचना की। साहूजी ने मुनियों को तक्र का दान दिया।

निर्दोष तक्र लेकर मुनि समीप ही एक वृक्ष के नीचे चले गये। तक्रपान करके उन्होंने अपनी पिपासा शान्त की और वहीं विश्राम करने लगे।

सोहन साहू ने साधुओं की यह कठोर चर्या देखी तो उनका हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण हो गया। वह मन ही मन मुनियों के तप, त्याग और सयम की प्रशसा करने लगे। थोडी देर में वह उसी वृक्ष के नीचे जा पहुँचे, जहाँ मुनि विश्राम कर रहे थे। उनकी पत्नी भी उनके साथ थी।

साहू ने जाकर मुनियों को नमस्कार किया। फिर विनम्र भाव से कहा-'दीनदयाल! मेरी इस दुर्दशा का क्या कारण है?' यह कह कर उन्होंने अपनी पूर्वावस्था का वर्णन करके वर्तमान स्थिति को भी स्पष्ट कर दिया।

साहू का प्रश्न सुनकर ऋषिराज बोले-भद्र! कर्म की गति बडी विचित्र है। ससारी जीव कर्मों के वशवर्त्ती है। कर्मों के प्रभाव से सदा काल एक-सी स्थिति नही रहती। जैसे-जैसे कर्म उदय में आते हैं, वैसा-वैसा फल उन्हे भोगना पड़ता है। कहा भी है —

कर्मों और कषायो के वश होकर प्राणी नाना-
कायो को धारण करता है, तजता है जग जाना।
है ससार यही, अनादि से जीव यही दुख पाते,
कर्म-मदारी जीव-वानरो को हा! नाच नचाते॥

कभी नरक गति मे जाता है, वीज पाप का वो कर,
घोर व्यथाएँ तब सहता है दीन नारकी होकर ।
छेदन–भेदन ताडन–फाडन की है अकथ कहानी,
पडे विलखते सदा नारकी मिले न दाना–पानी ॥

निकल नरक से कभी जीव तिर्यंच योनि मे आता,
वध–वन्धन के भार–वहन के कष्ट कोटिश पाता ।
एक श्वास में वार अठारह जन्म–मरण करता है,
आपस में भी एक दूसरा प्राण हरण करता है ॥

मानव भव पाकर भी कितने मनुज सुखी होते है,
विविध व्याधियो के वश होकर अगणित नर रोते है ।
अगोपाग विकल हो अथवा पागल होकर अपना–
जीवन हाय विताते कव हो पूरा मन का सपना ॥

दानव-सा दारिद्रच किसी को, स्वजन-वियोग किसी को,
पुत्र अभाव किसी को, अप्रिय का सयोग किसी को ।
नाना चिन्ताएँ डाइन की भाँति खडी रहती हैं,
इस प्रकार दुनिया में दुख की सरिताएँ वहती है ॥

हे भव्य ! ससार मे कोई भी प्राणी सुखी नहीं है । जब तुम धनवान थे तो पुत्र के लिए दुखी थे । अब पुत्रवान् हुए तो धन के लिए दुखी हो । सभी ससारी जीवो का यही हाल है । सब किसी न किसी दु ख से पीडित हैं । उनके दु खो का मूल कारण कर्म ही है । नरेन्द्र और सुरेन्द्र भी कर्मों के चक्कर से नहीं वच पाते तो साधारण मनुष्यो की तो वात ही क्या है ?

पहले जो कर्म उपार्जन किये जा चुके है, उनके परिणाम को पलट देने की क्षमता किसी मे नहीं है। उनके फल से बचने की चेष्टा सफल नही हो सकती। अतएव निराकुल भाव से, मध्यस्थ परिणामो से उनका फल, भोगना चाहिए। हाय-हाय करने से लाभ के बदले हानि ही होती है। इस समय का वर्त्तमान, भविष्य का निर्माता है। अतएव अपने भविष्य को सुधारने का अर्थ वर्त्तमान को सुधारना है। जो इस जीवन को सुधारेगा, उसका भावी जीवन स्वत सुधर जायगा। अतएव अगर तुम अपने भविष्य को मंगलमय बनाने के अभिलाषी हो तो समभाव धारण करो। बुरी से बुरी परिस्थिति में भी आर्त्तध्यान से बचो।

हे भद्र! चिन्ता करने से या शोक मनाने से दु ख नहीं मिटता। कृत कर्मों का फल कायरता से नही, वीरता से भोगना चाहिए और धर्म के प्रति प्रेम जगाना चाहिए। वीतराग द्वारा प्ररूपित धर्म का आचरण करने से पापो का पुज भी नष्ट हो सकता है।

चक्रवत्परिवर्त्तन्ते दु खानि च सुखानि च।

संसार में सुख और दु.ख गाडी के पहिये की भाँति घूमते रहते हैं। अतएव मत समझो कि तुम्हारे ऊपर जो दु'ख आ पडा है, वह शाश्वत है, कभी नष्ट ही न होगा। जब सुख न रहा तो दु ख भी नहीं रहेगा। पुण्य क्षीण होने पर सुख का नाश



जिनदास का जन्म



पुण्यमेव भवमर्मदारणं, पुण्यमेव शिवशर्मकारणम् ।
पुण्यमेव हि विपत्तिशामन, पुण्यमेव जगदेकशासनम् ।।

पुण्य परम्परा से जन्म-मृत्यु का अन्त करता है, पुण्य ही मुक्ति के आनन्द को देने वाला है, पुण्य ही समस्त विपत्तियो को शमन करता है और पुण्य ही संसार का अद्वितीय शासक है ।

सोहन साहू और उनकी पत्नी को मुनिराज की वाणी सुनकर अत्यन्त हर्ष हुआ । अब तक वह धर्म से सर्वथा विमुख थे, अब धर्म की ओर कुछ उन्मुख हुए । उन्होने धर्माचरण-नित्य-नियम करने का विचार किया ।

आखिर पाप कर्मों का अन्त आया । सेठानी पुन' गर्भवती हुई । इस बार पुण्य के उदय से एक पुण्यवान जीव गर्भ मे आया । उसके गर्भ मे आने पर सेठानी को कुभ का स्वप्न आया । जब सेठानी ने अपने स्वप्न की बात सेठ को सुनाई तो उसे अत्यन्त प्रसन्नता हुई । सेठ समझ गया कि यह सब धर्म-ध्यान का ही प्रताप है । अतएव उसने धर्मध्यान मे और अधिक वृद्धि की ।

रहती। मन में पवित्र भावनाएँ जगाती। दुष्ट संकल्पों को क्षण भर के लिए भी मन में उदित न होने देती। तात्पर्य यह है कि गर्भ को क्षति पहुंचाने वाला कोई आचार-विचार नहीं करती थी।

अन्ततः नौ मास पूरे हो गये। सेठानी के उदर से एक सुन्दर, शुभ लक्षणों से सम्पन्न, पुण्यशाली शिशु का जन्म हुआ। सेठजी ने अतिशय उत्साह के साथ पुत्र का जन्मोत्सव मनाया। स्वजनों और परिजनों को भी इससे अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

नाल गाड़ने के लिए जमीन खोदी तो धन का खजाना अचानक ही निकल पड़ा। अब तो सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा। उसे विश्वास हो गया कि नवागत शिशु अतीव पुण्यशाली है और इसी की कृपा से हमारे दिन फिरे हैं। धन का निधान मिलने से सेठ के सभी दुःख दूर हो गये। आनन्द हो गया। उसने दिल खोलकर, मुक्त हस्त से दान दिया। पुण्यवान् के पास सम्पत्ति आती है तो वह शुभ कार्यों में ही उसका व्यय करता है।

नामकरण संस्कार का अवसर आया। सेठजी ने अपने समस्त ज्ञातिजनों को और स्नेही मित्रों को आमंत्रित किया। उदारता के साथ बहुमूल्य भोजन बनवाया। सबको जिमा कर यथोचित रूप में सम्मानित किया। फिर शिशु का नामकरण संस्कार किया गया। जिनधर्म की आराधना करने के फलस्वरूप ही इस पुण्यवान् पुत्र का जन्म हुआ था। यह बात लक्ष्य में रख कर सोहन सेठ ने उसका नाम 'जिनदास' रक्खा। यह नाम सुनकर सभी उपस्थित जनों को प्रसन्नता हुई। सबने हर्ष मनाया और शिशु के कल्याण की अन्तःकरण से कामना की। अन्त में ताम्बूल आदि खाकर सब लोग अपने-अपने स्थान पर चले गये।

व्यापार में लाभ होने लगा। जिन लोगों पर सेठजी का ऋण लेना था, वह भी नरम पड़ने लगे-कर्ज चुकाने लगे। व्यापार में लाभ होने और ऋण की वसूली होने के कारण सोहन साहू के पास पैसा जुटने लगा। जिसने सेठ की हवेली पर कब्जा कर लिया था, वह एक दिन आया और बोला—सेठजी, मैं इतनी बड़ी हवेली लेकर क्या करूँगा! आप मुझे रुपया दे दें और अपनी जगह वापिस ले लें।

सोहन साहू ने यही उचित समझा। अब उनके पास इतना द्रव्य सञ्चित हो गया था कि वे अपनी हवेली वापिस ले लें। उन्होंने यही किया। वे अपने बाप-दादे की जगह में आ गये झोंपड़ी छूट गई। इस अवसर पर सेठ-सेठानी को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, यह तो वही जान सकता है जो ऐसी स्थिति में आया हो।

गर्भ जब तीन मास का हुआ तो सेठानी को दोहद उपजा। दोहद यह कि दानधर्म करके लाभ उठाऊँ। सेठ-सेठानी ने ऐसा ही किया। अपनी शक्ति के अनुसार, उदार भाव से उन्होंने दान दिया और चारों तीर्थों की यथा योग्य भक्ति की। पुण्य के योग से उनकी सब अभिलाषाएँ पूर्ण होने लगी। किसी बात की कमी न रही।

सेठानी अतिशय सन्तोष और प्रेम के साथ गर्भ का पालन करने लगी। वह गर्भवती के योग्य आहार-विहार करती और गर्भ को हानि पहुँचाने वाले आहार-विहार से बचती रहती, वह परिमित और पथ्य भोजन करती थी। सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न करती। चिन्ता, शोक या भय आदि के कारणों से दूर ही

एक मात्र पुण्य की साधना करने से धन-सम्पत्ति, परिवार, प्रतिष्ठा आदि सब प्रिय वस्तुएँ प्राप्त हो जाती है।

एक पुण्यशाली प्राणी के प्रताप से सोहन साहू का सारा परिवार सुखी हो गया। अब उसके दिन आनन्द मे व्यतीत होने लगे। साहू ने अपने तीनो लडको को पढाया-लिखाया। उनका विवाह भी कर दिया। तीनो धंधे मे लग गये। सबके दुःख दूर हो गये।

मगर आवड, जावड और खावड-तीनो भाई धन-सम्पत्ति पाकर इतराने लगे। उन्होने धर्म-कर्म सब त्याग दिया। विषयो मे आसक्त हो गये। जो नियम और व्रत पालते थे, सब छोड बैठे। भक्ष्य-अभक्ष्य का भान भी भूल गये। कन्दमूल आदि का आहार करने लगे। सातो कुव्यसनों का सेवन करने मे निष्णात हो गये। ठीक ही कहा है,—

द्रव्येण जायते काम, क्रोधो द्रव्येण जायते।
द्रव्येण जायते लोभो, मोहो द्रव्येण जायते॥

अर्थात्— द्रव्य काम को उत्पन्न करता है, द्रव्यवान् को बात-बात में क्रोध आता है, द्रव्य से लोभ का उदय होता है और द्रव्य मोह का भी जनक है।

जब तक सोहन साहू के यह तीनो कुँवर दुःख में थे, पैसे-पैसे को मुँहताज थे, भर पेट भोजन भी नही पाते थे, तब तक उनकी अक्ल दुरुस्त थी, पर धन होते ही उनकी बुद्धि पर पर्दा पड़ गया। उन्होने धर्म को धता बता दिया। वे भूल गये कि

जिनदास के पुण्य के प्रभाव से सोहन सेठ की सम्पत्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढने लगी। अब उनके पास पहले से भी अधिक धन संचित हो गया। धन के साथ प्रतिष्ठा भी बढी, कीर्ति भी बढ़ी, आदर-सम्मान भी बढ़ा। सो ठीक ही है, क्योंकि—

पत्नी प्रेमवती सुतः सविभवो भ्राता गुणालङ्कृतः,
स्निग्धो बन्धुजनः सखाऽतिचतुरो नित्यं प्रसन्नः प्रभुः।
निर्लोभोऽनुचरः स्वबन्धुसुमुनिप्रायोपयोग्यं धनम्,
पुण्यानामुदयेन सन्ततमिदं कस्यापि सम्पद्यते ॥

अर्थात्—स्नेहशीला पत्नी, विनीत पुत्र, सद्गुणी भाई, स्नेही बन्धुजन, अत्यन्त कुशल मित्र, सदा प्रसन्न रहने वाला स्वामी, निर्लोभ नौकर, अपने बन्धुओं और सन्तों तथा सतियों के उपयोग मे आने योग्य द्रव्य-यह सब सामग्री पुण्य के योग से ही प्राप्त होती है।

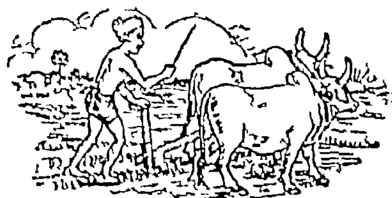
आशय यह है कि जब पुण्य का उदय होता है तो मनुष्य को सभी इष्ट और अनुकूल सामग्री की प्राप्ति होती है। पुण्यवान् की सब अभिलाषाएँ अनायास ही पूर्ण हो जाती हैं। इस जगत् मे कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो पुण्यवान् के लिए दुर्लभ हो सके। पुण्य कल्पवृक्ष के समान यथेष्ट फल का दाता है। अतएव जो सुख की सामग्री प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हे और सब यत्न त्याग कर पुण्य की साधना करनी चाहिए। पुण्य का संचय कर लिया तो सब सम्पत्ति सहज ही मिल जायगी।

एकहिं साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।

होता था कि इस बालवय मे चपलता के बदले इतनी गम्भीरता और शान्तता इस बालक मे कहाँ से आ गई ?

जिनदास अपने अध्यापक का विनय करता। अपने माता-पिता का आदर करता था। बडे भाइयो के प्रति भी आदर का भाव रखता था। उच्च कुल, उच्च जाति और सुसस्कारो से युक्त आदर्श परिवार के बालको मे जो विशेषताएँ पाई जाती है, वही सब उसमे थी और असाधारण रूप मे थी। यही कारण था कि वह अपने माता-पिता के नयनो का तारा, अतिशय प्यारा बन गया था।

जिनदास ने स्वल्पकाल मे ही सभी कलाओ मे कुशलता प्राप्त कर ली। वह गम्भीर से गम्भीर बातो को समझने लगा। फिर भी वह अध्ययनशील था। निरन्तर पढता-लिखता रहता और अपने ज्ञान का भडार बढाता रहता। वह तन के, मन के, हृदय के और बुद्धि के विकास मे सलग्न था। पूर्वार्जित पुण्य के प्रभाव से उसे सभी सुखप्रद सामग्री उपलब्ध थी।



आज उनकी जो सुधरी हुई हालत है, उसका एक मात्र कारण धर्म ही है !

इधर उनका चौथा पुत्र जिनदास, जिसके पुण्य-प्रताप से यह परिवार सुखी और सम्पन्न बना था, आठ वर्ष का हो गया। वह अध्यापक के पास शिक्षा ग्रहण करने लगा। उसकी बुद्धि बडी ही प्रखर थी। बुद्धि की तीव्रता और तीक्ष्णता देख कर उसके अध्यापक को भी विस्मय और हर्ष होता था। एक बार उसे जो कुछ सिखा दिया जाता था, कभी दोबारा सिखाने की आवश्यकता नहीं पडती थी। वह सदा के लिए उसे धारण कर लेता था। अध्यापक ऐसे कुशाग्रबुद्धि शिष्य को पाकर अपने आपको धन्य समझता था।

अध्यापक को जब विश्वास हो जाता है कि मेरा शिष्य योग्य है और मै सुपात्र को ज्ञान दे रहा हूं, तब वह अपने हृदय के सभी द्वार खोल देता है। अत्यन्त प्रीति के साथ, वह उसे अपना सचित ज्ञान धन प्रदान कर देता है। जिनदास ऐसा ही सुपात्र शिष्य था। अध्यापक ने दिल खोल कर उसे अक विद्या और अक्षरविद्या का मर्म समझाया।

जिनदास स्वभाव से नम्र, विनीत, शान्त, मधुरभाषी, गम्भीर और सत्यवादी था। विनीत होने के कारण उसे अनायास ही विद्या आ गई। अन्यान्य सद्गुणो ने उसके व्यक्तित्व को चमका दिया। अध्यापक उसे हृदय से स्नेह करते थे। जिनदास जिस किसी के परिचय मे आता, वही उसे प्यार करने लगता। उसकी गभीरता और शाति देख कर लोगो को आश्चर्य

इन लक्षणो मे श्रावक-जीवन की अनेक बाते अन्तर्निहित है, जिन्हे दूसरे ग्रन्थकार ने थोड़ा खुलासा करके बतलाया है -

नो भुन्जेत् किल रात्रिभोजनमथो, नो कन्दमूलाशनम्,
नो कुर्याद् ध्रुवमन्यदारगमन, मात्रा सम मन्यते ।
नो सेवेत कदापि सप्तव्यसन, नो दीर्घवैर तथा,
यस्यैतद् गुणपचक हृदि वसेत्तच्छ्रावकत्व परम् ॥

अर्थात्—श्रावक मे मुख्य पाँच बाते अवश्य होनी चाहिए। श्रावक रात्रि मे भोजन न करे, कन्दमूल का जो अनन्त वनस्पति-घायिक जीवो का पिण्ड है, भक्षण न करे, परस्त्री को माता के समान समझ कर कदापि सेवन न करे, कभी सात कुव्यसनो का सेवन न करे और दीर्घ वैर न करे अर्थात् किसी के प्रति लम्बे काल तक गाँठ बाँध कर वैरभाव धारण न किये रहे। यह लक्षण जिसमे पाये जाते है, उसी को श्रावक कहा जा सकता है ।

श्रीपति सेठ मे श्रावकत्व के यह सब लक्षण पूरी तरह घटित होते थे। वह साधु-सन्तो को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार देने के लिए सदा उत्कठित रहते थे। अपने धर्म की ज्ञान और आचरण के द्वारा प्रभावना करते थे। साधर्मी भाइयो को ज्ञान के उपकरण-शास्त्र आदि-देते रहते थे। हृदय के उदार थे। अपरिमित लोभ-लालच उनसे कोसो दूर था। सन्तोषशील थे। न्यायपरायण और निरभिमान थे।

उनकी पत्नी का नाम 'शिवा' था। 'शिवा' सचमुच शिवा अर्थात् कल्याणी थी। धर्म पर उसकी गाढी प्रीति थी। इनके



धर्मनिष्ठ कुटुम्ब



इसी महेन्द्रपुर नगर में श्रीपति नामक एक धन सम्पन्न श्रेष्ठी निवास करते थे। श्रीपति सेठ इस नगर के सब से बड़े सेठ थे। उन्हें नगरसेठ की पदवी दी गई थी। नगरसेठ प्रवचन के ज्ञाता थे, श्रमणोपासक के बारह व्रतों का परिपालन करते थे और सामायिक-प्रतिक्रमण आदि षडावश्यकों को अखंडित और अबाधित रूप से पालन करते थे। पर्व के दिनों में उपवास और पौषध आदि क्रियाओं को करने में कभी नहीं चूकते थे। संक्षेप में कहा जाय तो श्रीपति सेठ श्रावक के सभी लक्षणों से सम्पन्न थे। श्रावक के लक्षण यह हैं—

सिद्धान्तश्रवणे श्रद्धा, विवेकव्रतपालनम् ।
दानादिकरण सेवा, ह्येतच्छ्रावकलक्षणम् ।।

अर्थात्—वीतराग भगवान् के सिद्धान्त को सुनने में श्रद्धा-रुचि रखना, विवेकपूर्वक बारह व्रतों का पालन करना, यथाशक्ति दान, शील, तप और भावना रूप चतुर्विध धर्म की आराधना करना, मुनियों की सेवा एवं उपासना करना, यह श्रावक के लक्षण है।

एक बार महेन्द्रपुर में धर्मजय ऋषि का पदार्पण हुआ। उनके अनेक शिष्य उनके साथ थे। ऋषिजी चरण-करण के धाम, गुणों के धाम और ज्ञान के निधान थे। वे निर्दोष स्थानक की याचना करके एक जगह ठहर गये।

मुनिराज के आगमन का वृत्तान्त समस्त नगर में फैल गया। इससे समस्त भव्य एवं धर्म प्रेमी जीवों को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। जिसने मुनि के आगमन का वृत्तान्त सुना, वही दर्शन करने को चल पड़ा। स्थानक में एक बड़ा-सा समूह एकत्र हो गया। ऋषिराज ने सब को वीतराग देव की वाणी सुनाई। आपके मधुर, वैराग्यपूरित और कल्याणकारी उपदेश को सुन कर सब श्रोताओं को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

ऋषिराज का विशाल भाल ब्रह्मचर्य और तप के तेज से प्रदीप्त था। तपस्या के कारण और वृद्धावस्था के कारण काया कृश हो गई थी। वे वय स्थविर अवस्था में जा पहुँचे थे। अतएव धर्मोपदेश के अनन्तर सब श्रावकों और श्राविकाओं ने खड़े होकर प्रार्थना की-गुरुदेव! आपकी काया अब ग्रामानुग्राम विचरने योग्य नहीं रही है। अतएव अनुग्रह करके आप यहीं स्थिरवास कीजिए। आपके यहाँ विराजमान रहने से धर्म की खूब वृद्धि होगी।

अवसर देख कर मुनिराज ने उत्तर दिया-देखा जायगा। केवली भगवान् ने अपने ज्ञान में जैसा देखा है, वही होगा।

इतना आश्वासन सुन कर सब लोग प्रसन्न हुए और अपने-अपने घर चले गये। श्रीपति सेठ भी अपनी हवेली में आ गये।

उदर से दो सन्तानो ने जन्म लिया था। एक पुत्र था जिसका नाम धर्मचन्द्र था और एक कन्या थी, जिसका नाम 'सुगुणी' था।

श्रीपति सेठ की दोनो सन्तान धर्मप्रिय थी। उन्हे धर्मशास्त्र का अच्छा ज्ञान दिया गया था। स्वभाव से दयालु और शील सम्पन्न थीं।

बहुत अशो में सन्तान माता-पिता के सस्कारो को ग्रहण करती है। भलाई-बुराई सीखने का प्रधान साधन सन्तान के लिए माता-पिता ही हैं। सब से अधिक सम्पर्क माता-पिता के साथ रहने के कारण सन्तान उनके प्रत्येक व्यवहार को ध्यान-पूर्वक देखती है और उसी से वैसा सीखती है। यही कारण है कि घर का मुखिया अगर भला होता है तो घर के लोग भी भले बनते है। कभी-कभी इस कथन मे अपवाद भी देखे जाते है, फिर भी अधिकाश मे यही नियम चरितार्थ होता है।

श्रीपतिसेठ का परिवार वास्तव मे आदर्श था। सब छोटे और बड़े सन्तो का समागम करते थे, धर्मक्रिया करते थे, यथोचित दान देते थे, दूसरो के धर्मपालन मे सहायक बनते थे और प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग करते थे। सन्ध्या समय सारा परिवार एकत्र होता था और धर्म तथा नीति की चर्चा मे अपने समय का सद्व्यय करता था। कोई किसी की निन्दा, कुबड़ाई या विकथा न करता था। सब सब का यथा-योग्य आदर करते और सब सब से प्रेम करते थे। इस प्रकार आनन्दपूर्वक इस परिवार का काल व्यतीत हो रहा था। पुण्यवान् को पुण्यवानो का योग मिल गया था।

सुगुणी—यों ही चली आई पिताजी।

श्रीपति—मगर चेहरे से तो जान पड़ता है, कोई बात है।

सुगुणी ने सिर नीचा कर लिया। उसका चेहरा लज्जा से लाल हो गया।

श्रीपति—बिटिया! बाप से कोई बात छिपाने की आवश्यकता नहीं। जो मन में हो, वही वचन में होना चाहिए।

सुगुणी—नहीं, बात छिपाने के लिए आपके पास आने की आवश्यकता ही क्या थी? छिपाना चाहती तो आती ही क्यो?

श्रीपति—तो फिर कह डालो।

सुगुणी—आप तो जानते ही हैं कि सगति का प्रभाव पडता है। जो जैसी सगति में रहेगा, वैसा ही हो जायगा।

श्रीपति—बिलकुल ठीक।

सुगुणी—तो मैं सत्सगति चाहती हूँ।

श्रीपति—किस प्रकार?

सुगुणी—नारी को जीवन भर दूसरे के सहारे रहना पडता है। पति ही उसका प्रधान आलम्बन है। मैं रूप की प्यासी नहीं हूँ, धन की भूखी नहीं हूँ। मुझे धर्म प्यारा है-प्राणों से भी अधिक। अतएव मैं किसी धर्मनिष्ठ का ही साहचर्य चाहती हूँ।

हवेली मे आकर नगरसेठ श्रीपति ने अपने परिवार से कहा—देखो, सौभाग्य से अपने नगर मे मुनिराज पधारे है। अतएव कोई उनके दर्शन किये बिना भोजन न करे। सब को विनय और भक्ति के साथ, थोड़ा-बहुत, नित्य नया ज्ञान सीखना चाहिए। यह स्वर्ण-अवसर है। ऐसा अवसर बार-बार नहीं मिलता। पुण्य योग से ही यह मौका मिला है।

परिवार के लोगो ने प्रसन्नतापूर्वक सेठजी के आदेश को शिरोधार्य किया। कहा—धन्य भाग्य हैं हमारे जो आप जैसे विवेकशील अग्रणी प्राप्त हुए! कुमार्ग की ओर ले जाने वाले स्वजन तो बहुत मिलते हैं, किन्तु धर्म पथ पर चलाने वाले आप सरीखे कहीं विरले ही होते है।

दूसरे दिन से वही क्रम चल पडा। नगरसेठ के कुटुम्बी-जन अतिशय विनय के साथ, श्रद्धा—भक्ति पूर्वक ज्ञान सीखने लगे। सेठजी की सुपुत्री सुगुणी धर्म मे प्रगाढ़ निष्ठा रखती थी। जैसे पानी मे तेल की एक बूंद भी फैल जाती है, उसी प्रकार उसकी अन्तरात्मा में थोडी-सी धर्म शिक्षा भी विशाल रूप धारण कर लेती थी। सुगुणी अल्पवयस्का बालिका थी, फिर भी उसने बहुत-से शास्त्रो का सुलझा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वह नौ तत्त्वो को, द्रव्य-पर्याय को, गुण स्थानो और प्रमाणो को तथा अन्यान्य शास्त्रीय विषयो को भली भाँति समझती थी। उसने आचार शास्त्र मे भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। अब उसके विवाह की चर्चा चलने लगी थी।

एक दिन लजाती-लजाती सुगुणी पिता के सामने आई। श्रीपति ने कहा—बिटिया! आज इस समय कैसे?



जिनदास की धर्मप्राप्ति



नगर सेठ श्रीपति का पुत्र धर्मचन्द्र और सोहन साहू का पुत्र जिनदास—दोनों एक ही अध्यापक से शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। दोनो गुरु-भाई थे। दोनों की उम्र, बुद्धि और बल एक सरीखा था। कहावत है:—

समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।

अर्थात् एक सरीखे स्वभाव वालों और एक-सी उम्र वालों मे मैत्री हो जाती है। इस कथन के अनुसार इन दोनो बालको मे मित्रता हो गई थी। दोनो होड लगा-लगा कर विद्याभ्यास किया करते थे। जिनदास, धर्मचन्द्र के रथ पर सवार होकर पढने जाया करता था।

रास्ते मे स्थानक पडता था। स्थानक आता तो धर्मचन्द्र अपना रथ रुकवा लेता और उत्तरासन करके जूते खोल कर स्थानक में जाता और मुनिराज के दर्शन किया करता था। पहले ही कहा जा चुका है कि मोहन सेठ का घर धर्म से अनभिज्ञ था। अतएव जिनदास को मुनियो के सम्बन्ध में भी कोई

श्रीपति को अपनी कन्या का मूर्त धर्मप्रेम देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ। उन्होंने कहा—बेटी, तेरी भावना सराहनीय है। मैं तेरी इच्छा के अनुरूप ही तेरे लिए साथी खोजूँगा।

सुगुणी—पिता, आपसे मुझे यही आशा थी।

श्रीपति—बेटी, कन्या का पिता जब लोभ-लालच और कुत्सित स्वार्थ के वशीभूत हो जाता है, तब वह अनमेल जोडा मिलाता है। ऐसे पिता को मैं कसाई से अधिक पापी समझता हू। वे अपनी सन्तति के घोर शत्रु हैं, कन्याद्रोही है। उनका मुख देखना भी पाप है। पुत्री ! तू निश्चिन्त रह। मैं अनुरूप जोड़ी ही मिलाने का प्रयत्न करूँगा। मैं भलीभाँति समझता हूं कि सुसगति ही सुखदायक होती है। मैं तुझे बधाई देता हूँ कि तू ने अपनी इच्छा मेरे समक्ष प्रकट कर दी।



इस प्रकार जिनदास का विनय-विवेक आदि देख कर मुनिराज का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो गया। तब मुनिराज ने धर्मचन्द्र से पूछा—भाई, यह कौन है ? पहले इन्हे कभी नहीं देखा।

धर्मचन्द्र—गुरुदेव, यह यहीं के सोहन सेठ के सुपुत्र हैं। इनके घर मे जैन धर्म की मान्यता नहीं है, फिर भी इनका नाम 'जिनदास' है। आज इनका परम पुण्य उदय मे आया है, जो आपके दर्शन हुए।

ऋषिराज को बालक का नाम, गुण, कर्म आदि जानकर आश्चर्य हुआ। साधु परोपकारी होते है। स्वय ससार-सागर से तिरने के लिए प्रयत्नशील होते हुए दूसरों को भी तारने का प्रयत्न करते है। यथा —

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो,
वसन्तवल्लोकहित चरन्त ।
तीर्णा स्वय भीमभहार्णव जनान्,
न हेतुनान्यानपि तारयन्त ॥

मुनिराज शान्ति के सुधारस का आस्वादन करते है, गुणों से महान् होते हैं, वसन्त के समान अभेदभाव से अखिल जगत् का हित करते विचरते है, स्वय भयानक भव-वारिधि को पार कर चुके हैं और बिना किसी स्वार्थ के अन्य जनों को भी तारने के लिए उद्यत रहते हैं।

धर्मजय मुनि ऐसे ही सन्त थे। वह चलने-फिरने वाले कल्पतरु थे। अनन्त करुणा के अवतार थे। परोपकार करने

जानकारी नहीं थी। एक दिन जिनदास ने धर्मचन्द्र से पूछा—मित्र! प्रतिदिन इस मकान मे किस लिए जाया करते हो?

धर्मचन्द्र—इस मकान में हमारे धर्मगुरु विराजमान हैं। बडे महात्मा हैं। उनके दर्शन से भव-भव के पातक दूर हो जाते है। गुरु महाराज की सगति से ज्ञान की प्राप्ति होती है।

जिनदास—अच्छा, तो मैं भी उनके दर्शन करना चाहता हूं। क्या तुम्हारे साथ चल सकता हू? साथ ले चलो तो कृपा होगी।

धर्मचन्द्र—बन्धु, मुनि प्राणी मात्र के त्राता और हितकारी हैं। उनके पास जाने की किसी को मनाई नहीं है। सब समान रूप से उनके दर्शन कर सकते है और उनका उपदेश सुन सकते हैं। वे जगत् के हैं और सारा जगत् उनका है। इच्छा हो तो खुशी से चलो।

जिनदास पुण्यवान् बालक था। उसका होनहार अच्छा था। अतएव उसे सद्बुद्धि उपजी और वह धर्मचन्द्र के साथ हो लिया। दोनों मुनिराज के निकट पहुँचे। धर्मचन्द्र ने विधि के अनुसार वन्दना की। जिनदास उस विधि से परिचित नहीं था, फिर भी उसने धर्मचन्द्र का अनुकरण किया। जिस विधि से धर्मचन्द्र ने वन्दना की थी, उसी विधि से उसने भी वन्दना की।

मुनिराज ने आज इस नवागत बालक को देखा। उन्होंने यह भी समझ लिया कि बालक बड़ा विचक्षण, शीलवान्, पुण्यवान् और गुणवान है। इसके प्रत्येक अङ्ग पर प्रशस्त लक्षण और व्यजन सुशोभित है।

है भी तो यही कि पशु में विशेष धर्म करने योग्य विवेक नहीं है, किन्तु मनुष्य विवेक होते हुए भी धर्म नही करता। अतएव उसे पशु से भी गया-बीता समझना चाहिए।

संसार मे सारभूत वस्तु धर्म ही है। अन्तिम समय मे जब समस्त स्वजन और परिजन छूट जाते हैं, कोई साथ देने मे समर्थ नही होता, तब एक मात्र धर्म ही सहायक होता है। धर्म से ही लौकिक और लोकोत्तर सुखो की प्राप्ति होती है। धर्म ही कल्याण का एक मात्र साधन है। कहा भी है—

धम्मेण कुलपसूई, धम्मेण य दिव्वरूवसपत्ती।
धम्मेण धणसमिद्धी, धम्मेण सुवित्थिडा कित्ती॥
धम्मो मगलमउल, ओसहमउल च सव्वदुक्खाण।
धम्मो बलमवि विउल, धम्मो ताण च सरण च॥
किं जपिएण बहुणा, ज ज दीसइ समत्थ जियलोए।
इन्दियमणाभिराम, त त धम्मप्फल सव्व॥
भीमम्मि मरण काले, मोत्तूण दुक्खसविढत्त पि।
अत्थ देह सयण धम्मो च्चिय होइ सुसहाओ॥

धर्म से उत्तम कुल मे जन्म होता है धर्म के प्रताप से ही दिव्य रूप को प्राप्ति होती है, धर्म से ही धन और वैभव मिलता है, और धर्म से ही सर्वत्र व्यापिनी कीर्त्ति प्राप्त होती है।

धर्म से जिस मगल की प्राप्ति होती है, वह अन्य किसी से भी नहीं हो सकती। धर्म समस्त आन्तरिक और बाह्य रोगों की अनुपम औषध है। धर्म ही ससार मे असाधारण बल है। धर्म ही त्राण है, धर्म ही शरण है।

वाले महान् आत्मा थे। अतएव उन्होंने जिनदास के कल्याण के लिए, सरस, सरल और मधुर शब्दों में धर्म का उपदेश किया। कहा.—

हे भद्र! चौरासी लाख जीवयोनियाँ है। यह आत्मा नाना रूप धारण करके उनमे अनादि काल से भटक रहा है, कभी नारक बना है, कभी पशु के रूप मे उत्पन्न हुआ है। कभी कीट-पतंग बना है। इतने अनेक योनियो में घोर व्यथाएँ सहन की हैं। प्रबल पुण्य के योग से अब इसे मनुष्य जीवन मिला। आर्य क्षेत्र मिला। उत्तम कुल मिला। दीर्घ आयु मिली। परिपूर्ण पाँचो इन्द्रियाँ मिली हैं। धनाढ्य कुल में जन्म लिया है। निर्ग्रन्थ सन्तों का समागम भी हो गया है अब धर्म का आचरण करना चाहिए। यह सब साधन अत्यन्त दुर्लभ हैं। प्रकृष्ट पुण्य का उदय होने पर ही इनकी प्राप्ति होती है। जो इस सामग्री का सदुपयोग करके आत्म-कल्याण करता है, वह धन्य है। इसके विपरीत, जो वृथा जीवन व्यतीत कर देता है, समझना चाहिए कि वह अपने पूर्वोपार्जित कर्म भुगत रहा है और आगे के लिए दरिद्र बन रहा है। अपना भविष्य बिगाड़ रहा है।

भाई, जरा विचार करो कि मनुष्य और पशु मे अन्तर क्या है? पशु भी खाते-पीते, सोते, विषयों का उपभोग करते और अपनी जान बचाने का प्रयत्न करते है और मनुष्य भी यही सब करता है। इन सब क्रियाओ से दोनो मे कोई भिन्नता नही है। अगर कोई भिन्नता है तो वह धर्म के द्वारा ही है। मनुष्य जिस विशिष्ट धर्म की आराधना कर सकता है, पशु नही कर सकता। ऐसी स्थिति मे स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म का आचरण नही करता, उसमे और पशु मे कोई खास अन्तर नहीं है। अन्तर

शका, कांक्षा आदि दोषो से दूर रह कर सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा प्ररूपित तत्वो पर निश्चल श्रद्धा रखना सम्यक्त्वधर्म है। सम्यक्त्वधर्म, चारित्रधर्म की नीव है। जैसे नीव के बिना मकान नही टिकता, उसी प्रकार सम्यक्त्व को मोक्ष महल की पहली सीढ़ी कहा गया है। जिसमे सम्यक्त्वधर्म का आविर्भाव हो जाता है, वह वीतराग सर्वज्ञ देव पर, पचमहाव्रतधारी निर्ग्रंथ गुरुओ पर, दयामय धर्म पर और वीतराग की वाणी पर श्रद्धा रखता है और रागी-द्वेषी देवो, कुगुरुओ, और हिंसामय धर्म पर कभी श्रद्धा नही कर सकता। उसका अन्तस्तल शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य से परिपूर्ण हो जाता है। ऐसा सम्य-क्त्वधर्मी ही चारित्रधर्म को पालने की पात्रता प्राप्त करता है। अतएव आत्मकल्याण के अभिलाषी का प्रथम कर्त्तव्य अपनी श्रद्धा को निर्मल और प्रगाढ़ बनाना है।

सम्यक्त्व धर्म के पश्चात होने वाला चारित्रधर्म अधि-कारी भेद से दो प्रकार का है—(१) साधु-आचारधर्म और (२) श्रावकाचारधर्म। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत को मन, वचन, काय से, पूर्ण रूप से पालना साधु का आचारधर्म है। इस धर्म के अन्तर्गत और भी बहुत-सी बातें है, जिनका यहाँ विस्तारभय से उल्लेख नही किया जा सकता जैसे—पाँच समितियो का पालन करना, तीन गुप्तियो का पालन करना आदि आदि।

श्रावकाचारधर्म बारह प्रकार का है। इसमे पूर्वोक्त पाँच व्रत भी सम्मिलित हैं, किन्तु श्रावक उनका अपनी सामर्थ्य के अनुसार आशिक रूप मे पालन करता है। यह पाँच अणुव्रत कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत होते हैं। यही

अधिक क्या कहा जाय, सम्पूर्ण जीव लोक मे इन्द्रियो को और मन को प्रिय लगने वाली जो-जो वस्तुएँ हैं, वह सब धर्म का ही फल है।

भयानक मरण-काल में मनुष्य अत्यन्त कष्ट से उपार्जित धन-सम्पत्ति को, देह को और आत्मीय जनो को त्याग कर जाता है, तब एक मात्र धर्म ही उसका सहायक होता है।

हे भद्र! धर्म की यह महिमा है। धर्म से ही दुखो का विनाश होता है। धन और परिवार सभी यही रह जाएँगे, उपार्जित किया धर्म ही साथ में जायगा। जिसने पूर्व मे धर्म का आचरण नही किया, वह इस भव मे दीन, दरिद्र और दुखी देखा जाता है। जो धर्म को साथ लेकर आया है, वह इस भव मे भी देवोपम सुखो को भोगता और भव के अन्त मे स्वर्ग या मोक्ष का भागी होता है। जो पूर्ण धर्म को अङ्गीकार करता है, वह मोक्ष पाता है और जो एक देश धर्म (श्रावकधर्म) को स्वीकार करता है, वह स्वर्ग पाता है। स्वर्ग से च्यव कर वह जीव क्रमश सयम का आराधन करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

धर्मात्मा मनुष्य का व्यवहार इतना न्याय-सगत हो जाता है कि वह कभी कुमार्ग मे नहीं जा सकता। राजा या पंचो को दण्ड देने का अवसर नहीं मिलता। वह सारे ससार का प्यारा बन जाता है। उसे अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है। वह शान्ति और सन्तोष के अमृत का पान करता है।

जिस धर्म का यह स्वरूप बतलाया गया है, उसके मूल दो भेद हैं—(१) सम्यक्त्वधर्म और (२) चारित्रधर्म।

(७) सोच समझ कर उचित स्थान पर निवास करे।

(८) घर में, बाहर निकलने के अनेक द्वार न हो।

(९) सदाचारी पुरुषो की संगति करे।

(१०) माता-पिता की सेवा भक्ति करे।

(११) रगडे-झगड़े और बखेडे पैदा करने वाली जगह से दूर रहे, ऐसे स्थान मे न रहे जहाँ चित्त मे क्षोभ उत्पन्न हो।

(१२) कोई भी निन्दनीय काम न करे।

(१३) आमद के अनुसार खर्च करे-ज्यादा खर्च करेगा तो अनीति करेगा।

(१४) अपनी हैसियत के अनुरूप वेश-भूषा धारण करे।

(१५) प्रतिदिन धर्म का श्रवण करे।

(१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करे।

(१७) नियत समय पर शान्ति एवं सन्तोष के साथ भोजन करे।

(१८) धर्म के साथ अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करे कि कोई किसी का बाधक न बने।

(१९) अतिथियो का, साधु-सन्तो का, दीन-असहाय जनो का यथायोग्य सत्कार करे।

(२०) कभी दुराग्रह के वशीभूत न हो।

(२१) गुणों का पक्षपाती हो-जहाँ गुण दिखलाई दें, उन्हें ग्रहण करे और उनकी प्रशंसा करे।

(२२) देश और काल के विरुद्ध आचरण न करे।

सब मिलकर श्रावक के बारह व्रत हैं। श्रावकधर्म में भी अनेक बातें हैं, जिनका इन व्रतों के साथ पालन करना आवश्यक है। जैसे-प्रतिदिन सामायिक आदि षडावश्यक क्रियाओं का करना आदि।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह है कि श्रावकधर्म का सम्यक् प्रकार से परिपालन करने के लिए गृहस्थ को पात्रता प्राप्त करनी चाहिए। जैसे सिंहनी का दूध सुवर्ण के पात्र में ही टिकता है, उसी प्रकार गृहस्थधर्म भी पात्र में ही टिकता है, अपात्र में नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि श्रावकधर्म की पात्रता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि निम्नलिखित गुणों को धारण करने से पात्रता आती है—

(१) न्याय-नीति से धन उपार्जन करे।

(२) शिष्ट पुरुषों के आचार-विचार को अच्छा समझे, उनकी प्रशंसा करे।

(३) अपने कुल और शील में समान, किन्तु भिन्न गोत्र वालों के साथ विवाह-सम्बन्ध करे।

(४) पाप-भीरु हो।

(५) प्रसिद्ध देशाचार का पालन करे, अर्थात् देश की रीतियों का अनुसरण करे, किन्तु ऐसा करते समय धर्म में बाधा न उपस्थित होने दे।

(६) किसी की और विशेष रूप से राजा आदि की निन्दा न करे।

भूमिका पर गृहस्थधर्म का जो भव्य प्रासाद खडा किया जाता है, वही स्थायी होता है।

इन गुणो मे कई ऐसे है, जिनका सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन के साथ है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जिसका व्यावहारिक जीवन पतित और गया-बीता होता है, उसका धार्मिक जीवन उच्च श्रेणी का नही हो सकता। अतएव व्रतमय जीवन-यापन करने के लिए व्यावहारिक जीवन को उच्च बनाना आवश्यक है। जब व्यवहार मे पवित्रता आती है, तभी जीवन धर्म-साधना का पात्र बनता है।

इस प्रकार धर्मोपदेश करके अन्त मे ऋषिराज बोले—वत्स! कल्याण का जो मार्ग है, वह मैंने तुम्हें बतलाया है। उस मार्ग पर चलना तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। चलोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।

जिनदास और धर्मचन्द्र यह उपदेश सुनकर अतिशय हर्षित हुए। जिनदास ने कहा—जिदगी मे आज अपूर्व वस्तु मेरे हाथ लगी। इसका श्रेय मेरे सन्मित्र धर्मचन्द्र को है। मेरा भाग्य धन्य है जो आप जैसे निर्लोभी गुरु प्राप्त हुए। प्रभो! आपके वचन सत्य हैं। इनके अनुसार चलने में ही मेरा हित है। आप मेरे सच्चे हितैषी है। अनुग्रह करके मुझे सम्यक्त्वधर्म प्रदान कीजिए।,

मुनिराज ने सच्चे देव, गुरु और धर्म की श्रद्धा धारण कराई। जिनदास कुमार णमोकार मत्र, आवश्यक धर्मध्यान मुनिराज से सीखने लगा।



(२३) अपनी शक्ति-अशक्ति को समझे। अपनी सामर्थ्य का विचार करके किसी काम मे हाथ डाले, अन्यथा नही।

(२४) सदाचारी पुरुषों की तथा अपने से अधिक ज्ञान-वान् पुरुषो की विनय-भक्ति, सेवा- सहायता करे।

(२५) जिनके पालन-पोपण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन-पोपण करे।

(२६) दीर्घदृष्टि हो-आगे-पीछे का विचार करके कार्य करे।

(२७) अपने हित-अहित को समझे।

(२८) कृतज्ञ हो, कृतघ्नता कदापि न करे।

(२९) लोकप्रिय हो, अर्थात् अपने सदाचार एव सेवाकार्य द्वारा जनता का प्रेम सम्पादन करे।

(३०) लज्जाशील हो, अनुचित कार्य करने मे लज्जित हो।

(३१) दयालु हो।

(३२) सौम्य हो, चेहरे पर शान्ति झलकती हो।

(३३) परोपकारपरायण हो।

(३४) काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आन्तरिक शत्रुओ को जीतने मे उद्यत हो।

(३५) इन्द्रियो को वश में रक्खे।

जैसे बीज बोने से पहले क्षेत्र शुद्धि कर ली जाती है और दीवाल खडी करने से पहले नींव मजबूत कर ली जाती है, उसी प्रकार गृहस्थधर्म को धारण करने से पहले आवश्यक जीवन-शुद्धि कर लेना उचित है। यहाँ जो गुण बतलाये गये हैं, वे मार्गानुसारी के ३५ गुण कहलाते हैं। इन गुणो की आधार-

सारी सभा बालक जिनदास की सूक्ष्म बुद्धि, प्रगाढ़ जिज्ञासा और धर्म-रुचि देख कर विस्मित हो गई। सब लोग उसकी ओर देखने लगे। लोग मन ही मन कहने लगे—इस बालक के माता-पिता धन्य है, जिन्होने इस रत्न को जन्म दिया है ! इतनी छोटी उम्र मे इतना गहरा धर्मज्ञान हैं इसका ! आगे चल कर यह अवश्य ही धर्म का उद्योत करेगा। कहा हैं.—

स एव रम्य पुत्रो, यो कुलमेव न केवलम्।
पितु. कीर्तिञ्च, धर्मञ्च गुणाश्चापि विवर्धयेत् ॥

अर्थात्—वह पुत्र रमणीय है, जो न केवल अपने कुल की, बल्कि अपने माता-पिता की कीर्ति की वृद्धि करे, धर्म की वृद्धि करे और सद्गुणो की वृद्धि करे।

व्याख्यान समाप्त होने पर सब श्रोता अपने-अपने घर चले गये। उनके जाने के पश्चात् जिनदास भी सामायिक पार करके घर की ओर चला। जिनदास के प्रति श्रावको की ऐसी प्रीती हो गई थी कि राह चलते सब खड़े हो-हो कर उसका सत्कार करते थे।

नगरसेठ श्रीपति के मन मे किसी बोल के विषय में शका थी। जिनदास को जाते देख वह अपनी दुकान से उठकर उसके सामने आये। सत्कार पूर्वक उसे अपनी दुकान पर ले गये और शका समाधान करने लगे। इसी अवसर पर किसी कार्यवश जावडकुमार वहाँ आ पहुचा। नगर सेठ ने उससे कहा—'अभी मुझे फुर्सत नही है, फिर आना। अभी तो यह भाई साहब आये हैं। इनके साथ धर्मचर्चा करेंगे।'



अभ्युदय का बीज



जिनदास के प्रबल पुण्य का ऐसा योग था कि एक बार के धर्मोपदेश से ही उसका अन्तःकरण धर्म के पक्के रंग मे रंग गया। वह मुनिराज के पास नित्य आता था और नित्य नया ज्ञानाभ्यास करता था। उसकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। उसने थोड़े ही समय में धर्मशास्त्र का बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लिया। नौ तत्त्वों की, पच्चीस क्रियाओं की, षट्द्रव्यो की, नय-निक्षेप आदि की, कर्म सिद्धान्त और स्याद्वाद आदि सिद्धान्तो की उसे गहरी जानकारी हो गई। धर्मशास्त्र का अभ्यास करने की उसकी रुचि इतनी प्रबल थी कि कई बार वह शाला मे जाने का बहाना करके स्थानक मे जा पहुँचता और धर्मशास्त्र सीखा करता था।

एक दिन मुनिराज व्याख्यान बांच रहे थे। छह द्रव्यों की प्ररूपणा का अधिकार चल रहा था। जिनदास ने बीच-बीच मे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये। उसके प्रश्नों के उत्तरों से व्याख्यान सभा मे सूक्ष्म ज्ञान भी बादर रूप मे परिणत हो गया। जो बातें श्रोताओ को स्पष्ट रूप से समझ मे नहीं आई थी, वह भी स्पष्टहो गई।

द्वीपायन तापस द्वेष के वश हुए तो उन्होंने द्वारिका जैसी विशाल नगरी को भी भस्म करने में संकोच नहीं किया। फिर वर्द्धमान नामक नगर में शूलपाणि ने यक्ष होकर महामारी फैलाई और जनता को दुखी किया। अतएव द्वेष से दूर रहना ही उचित है। यह जिनदेव का उपदेश है।

हाँ, तो जावडकुमार के द्वेष प्रेरित वचन सुन कर सोहन सेठ ने कहा—जिनदास को मैं तुमसे अधिक जानता हूं। वह अतिशय पुण्यशाली है। वह कदापि कोई अनुचित कार्य नहीं कर सकता।

जावड़—आपका यह अन्धा प्रेम आपको और उसको भी ले डूबेगा, पीछे पछताना पड़ेगा!

सोहन सेठ—रहने दे बेटा, मैं सब समझता हूं। उसी के पुण्यप्रताप से यह सब सम्पदा है। उसी के पुण्य से तुम सब मौज कर रहे हो। भूल गये क्या कि पहले अपनी क्या दशा थी? उसके शुभोदय से ही हमारे दिन फिरे हैं। उसे लाछन लगाना वृथा है।

पिता के यह वचन सुन कर जावडकुमार मन ही मन खिसिया गया। उसने आँखें तरेर कर और ललाट पर बल डाल कर कहा—अच्छी बात है, मुझे क्या करना है! आपका लाडला बेटा ठहरा, चाहे सुधारो, चाहे बिगाड़ो।

यह कह कर जावड़ गया ही था कि जिनदास पिता के पास आया। आते ही उसने पिताजी के चरणों का स्पर्श किया। पिता ने पुचकार कर और आशीर्वाद देकर उसे अपने पास

सेठजी का यह उत्तर सुन कर जावडकुमार के मन मे ईर्षा की तीव्र आग प्रज्वलित हो उठी। यद्यपि अपने लघुभ्राता का इतना आदर-सत्कार देख कर उसे प्रसन्न होना चाहिए था, मगर पाप कर्म के उदय से उसे आनन्द के बदले डाह हुई। वह सोचने लगा—इसका इतना सम्मान और मेरा इतना अपमान! जिनदास इन मुँहबंधों के चाले लग गया है—इनके फंदे में फँस गया है! किसी दिन यह बाबा बन कर माँगता-खाता फिरेगा!

इस प्रकार बड़बड़ाता हुआ जावडकुमार सोहन साहू के पास आया। उनसे कहने लगा—'आप जिनदास को रोकते क्यो नहीं? वह साधु के फंदे मे पड़ गया है। पढ़ना-लिखना सब छोड़ बैठा है। सब लोग उसके पीछे लग गये हैं। समय पर सावधान न हुए और उस पर अकुश न रक्खा तो थोड़े ही दिनो में वह साधु बन जायगा और आपके कुल को लजाएगा।'

जावडकुमार को ईर्षा और द्वेष ने घेर लिया था। ईर्षा की आग से सतप्त होकर वह विवेकहीन बन रहा था। सच है, ईर्षालु मनुष्य आँख रहते भी अन्धा बन जाता है। वह अनेक अनर्थ कर गुजरता है, जिनका परिणाम आगे चल कर बड़ा भयानक होता है। कहा भी है.—

श्रीद्वीपायनतापसेन महती प्रज्वालिता द्वारिका,
द्वेपादेव च वर्द्धमाननगरे श्रीशूलपाणिरभूत।
मारी येन विमोचिता च सहसा लोकाश्च दुःखीकृता,
तस्मात्सोऽत्र विमुच्यतामिति जिनैर्व्याख्यायि सद्येऽनघे ॥

अर्थात्—धर्म, दुःख रूपी दावानल को शान्त करने के लिए मेघ के समान है, सकल सुख देने वाला चिन्तामणि रत्न के समान है, शोक रूपी भयानक सर्प के लिए गरुड़ पक्षी के समान है, धर्म विपत्ति से बचाने वाला है, धर्म से उच्च से उच्च पदो की प्राप्ति होती है, धर्म ससार में एक मात्र मित्र है, धर्म से ही जन्म जरा मरण का क्षय होता है और धर्म ही मोक्ष प्रदान करता है।

इस प्रकार जिनदास ने अपने पिताजी के सामने सब बाते खोल कर रख दीं। इस विवरण मे सभी प्रश्नो का उत्तर आ गया।

जिनदास की बात सुनकर सोहन साहू को अत्यन्त आमोद हुआ। सोहन सेठ यद्यपि जैनधर्म के अनुयायी नही थे, तथापि एक बार जैन मुनि के सम्पर्क में आये थे, अतएव उनके चित्त में जैन मुनियो और जैनधर्म के प्रति आदर का भाव विद्यमान था। अपने पुत्र को जैनधर्म मे अनुरक्त देख कर उन्हें प्रसन्नता ही हुई। उन्होंने जिनदास से कहा—बेटा, तुम पुण्यवान् हो और समझदार हो। मुनि के पास जाते हो अच्छी बात है। धर्म को सीखो और धर्मोपदेश सुनो। चलना तो मैं भी चाहता हूँ, पर क्या करूँ! बाल पक गये हैं! आज तक कभी स्थानक को आँखो नहीं देखा। अब वहाँ जाने में लाज लगती है। लोग मेरा उपहास करेंगे। यह सोचकर मैं नहीं जा सकता। फिर भी इतना करना कि तू प्रतिदिन वहाँ जो सुने, मुझे आकर कह दिया कर। मैं तेरे कथनानुसार घर में बैठकर ही धर्म ध्यान करूँगा।

बिठलाया। फिर मधुर स्वर मे पूछा—बेटा, कहाँ से आ रहे हो? पढाई-लिखाई का क्या हाल है? किस मार्ग पर चलना आरम्भ किया है?

जिनदास ने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक कहा—पिताजी आपके पुण्यप्रसाद से मुझे सद्गुरु मिल गये हैं। वे इसी नगर मे स्थिर वास करके रहते हैं। उनका मैंने समागम किया। गुरुदेव ने मुझ पर अनुग्रह करके जगत् का यथार्थ स्वरूप समझाया है। जड-चेतन का विवेक कराया है और बतलाया है कि मोह-माया विकट अन्धकूप है जिसमे पड़ कर मनुष्य अनेक प्रकार की घोर व्यथाएँ भोगता है। जो धर्म-मार्ग को जान लेता है, वह इस भव मे अनेक कुल को उज्ज्वल बनाता है, कभी अनीति के पथ पर नहीं जाता, परिवार मे एकता रखता है और विनम्रतापूर्ण व्यवहार करता है। आगामी भव मे धर्म ही स्वर्ग और मोक्ष का दाता है। ऐसा समझ कर मैंने धर्म को अङ्गीकार किया है। ससार की समस्त कलाएँ दु ख देने वाली हैं, केवल धर्मकला ही सुखदायी है। इसीलिए शास्त्र मे कहा गया है—

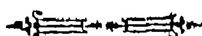
सव्वा कला धम्मकला जिणइ।

अर्थात्—धर्मकला सभी कलाओ को जीत लेती है। और भी कहा है.—

धर्मो दु खदवानलस्य जलद सौख्यैकचिन्तामणि:,
धर्म शोकमहोरगस्य गरुडो धर्मो विपत्त्रायक।
धर्म. प्रौढपदप्रदर्शनपटु, धर्मोऽद्वितीय. सखा,
धर्मो जन्मजरामृतिक्षयकरो धर्मो हि मोक्षप्रद॥



पाणिग्रहण

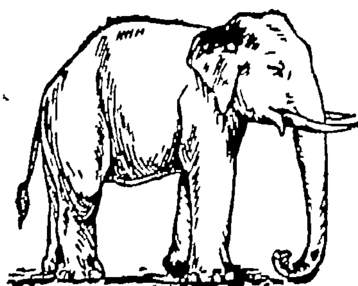


नगरसेठ श्रीपति, अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्री के साथ बैठ कर धर्म-चर्चा कर रहे थे। चर्चा के प्रसंग मे जिनदास की बात निकल पड़ी। जिनदास के गुणो का सौरभ सर्वत्र व्याप्त हो चुका था। वह थोड़ी-सी उम्र मे ही नगर मे विख्यात हो चुका था। धार्मिक जनता मे अग्रगण्य बन गया था। श्रीपति सेठ भी उससे प्रभावित थे। उन्होने धर्मचन्द्र से पूछा—बेटा, तुम्हारा अनन्य मित्र जिनदास किसका लड़का है ? वह लघु वय मे ही धर्म के रंग मे रंग गया है। उसका धर्म शास्त्र का ज्ञान भी अद्भुत है। अगर जाति-पाँति मेल खा जाय तो पुत्री सुगुणी की जोड़ी बड़ी अच्छी मिल जाय ! गुणो से तो जिनदास सुगुणी के योग्य है और सुगुणी जिनदास के योग्य है।

धर्मचन्द्र को पिताजी की अभिलाषा जान कर प्रसन्नता हुई। उसने कहा—पिताजी, आप जिनदास को नही जानते ? वह सोहन शाह के सुपुत्र है। उनकी जाति ऊँची है, कुल भी उत्तम है। घर मे बड़ा परिवार भी है। मैं समझता हूँ, ऐसा धर्मवान्, पुण्यवान्, रूपवान्, गुणवान् वर देश-विदेश मे खोजने पर भी मिलना कठिन है।

पिता के मुख से अपने आचरण का समर्थन सुन कर जिनदास को बड़ा आनन्द हुआ वह सोचने लगा—मेरा सारा परिवार अगर धर्मनिष्ठ बन जाय तो कितना उपकार हो !

अब जिनदास के सामने किसी बाधा की आशंका नहीं रही। वह निश्चिन्त भाव से धर्म ध्यान करने लगा। मुनिराज के मुखारविन्द से जो सुनता, पिताजी को प्रतिदिन सुना देता था। पिताजी को सुनाने के विचार से वह मुनिराज का उपदेश और अधिक ध्यान पूर्वक सुनने लगा।



मुनीमजी यह आदेश सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होने समुचित शृगार करके और अनेक जनो को साथ लेकर सोहन शाह के घर की ओर प्रस्थान किया। जब यह सब लोग सोहन सेठ के घर के समीप पहुचे तो इन्हे आते देखकर सेठजी खड़े हो गए। सत्कार-सम्मान करके उन्हें उच्च आसन पर बिठलाया। तत्पश्चात् प्रसन्नता के साथ उनके आगमन का प्रयोजन पूछा। सो ठीक ही है —

उत्तिष्ठन्ति निजासनान्नतशिरः पृच्छन्ति च स्वागतम्,
सन्तुष्यन्ति हसन्ति यान्ति च चिर प्रेमाञ्चित सगमम्।
सिञ्चन्तो वचनामृतेन हृदय सन्त समीपागताः,
कि कि न प्रियमाचरन्ति हि जने स्वीये च सम्मीलने॥

जब किसी सज्जन पुरुष के घर कोई प्रेमी पहुच जाता है तो वह सज्जन अनेक प्रकार से शिष्टाचार का प्रदर्शन करता है। सर्वप्रथम वह अपने आसन से उठ बैठता है, मस्तक नीचा करके अपनी नम्रता प्रकाशित करता है, स्वागत-शब्दों का प्रयोग करता है, आने का प्रयोजन पूछता है, उसके आगमन पर सन्तोष व्यक्त करता है, मुस्कराता है, समागम के उपलक्ष मे प्रीति प्रकट करता है, अपने मधुर वचनो से उसके हृदय को सीचता है। इस प्रकार सत्पुरुष आत्मीयजनो के मिलने पर सभी प्रकार से अपनी सद्भावना व्यक्त करता है।

सोहन सेठ ने भी इसी प्रकार समागत सज्जनो का सत्कार किया। सोहन सेठ के प्रश्न के उत्तर मे मुनीमजी ने कहा— नगरसेठ श्रीपति की विचक्षणा और सुलक्षणा पुत्री सुगुणी है। 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति चरितार्थ करती है। आपके पत्र

सहज तत्परता शुभ कार्य मे,
विनयिता छलहीन वदान्यता।
पर-अनिन्दकता गुण-ग्राहिता,
पुरुप-पुगव के शुभ चिन्ह है ॥

श्रेष्ठ पुरुष में यह सब लक्षण पाये जाते हैं और यह सभी लक्षण जिनदास मे हैं। अतएव यह उत्तम पात्र है।

श्रीपति—मैं भी यही सोचता हूं।

यह कह कर श्रीपति ने अपनी पत्नी की ओर इशारा करके कहा—कहो, तुम्हारी क्या सम्मति है ?

सेठानी ने मुस्करा कर कहा—पित-पुत्र सहमत है तो मैं असहमत कैसे हो सकती हूं ? आपका मत मेरा मत है।

इस वार्तालाप के समय सुगुणी वहीं उपस्थित थी। वह भी जिनदास की गुणावली और कीर्त्ति सुन चुकी थी। अतएव यद्यपि वह कुछ बोली नहीं, तथापि उसके चेहरे पर सन्तोष और सहमति का भाव स्पष्ट दिखलाई पडता था। इस प्रकार नगरसेठ का सारा परिवार इस सम्बन्ध मे एक मत हो गया। एक ओर से सम्बन्ध की बात पक्की हो गई।

श्रीपति सेठ ने 'शुभस्य शीघ्रम्' की नीति का अनुसरण करते हुए उसी समय अपने प्रधान मुनीम को बुलाकर ,आदेश दिया—मुनीमजी, आप अभी सोहन शाह के घर जाइए और उनके लघु पुत्र जिनदास के साथ बेटी सुगुणी का वाग्दान कर दीजिए।

जिसमे हिरण्य, सुवर्ण, दास, दासी, वस्त्र, चतुष्पद आदि सभी कुछ सम्मिलित था।

जिनदास और सुगुणी की जोडी अनूठी थी। जिसने इस जोड़ी को देखा उसी ने मुक्त कंठ से प्रशसा की। लोग कहने लगे-दोनो एक दूसरे के अनुरूप हैं। जिनदास सुगुणी (सद्गुणवान्) है और सुगुणी जिनदास (जिन भगवान् की भक्त) है। दोनो धर्मनिष्ठ है। इनका स्नेह अखड रहेगा।

विवाह के पश्चात् विदाई का समय आया। तब सुगुणी की माता का हृदय भर आया। उसके नेत्रो से आँसू बहने लगे। रुद्ध स्वर से उसने सुगुणी से कहा—बेटी! तुझे सीख देने की आवश्यकता नहीं। तू स्वय विवेकवती है, गुणवती है। फिर भी अब तू नवीन जीवन में और नवीन कुल में प्रवेश कर रही है, अतएव अपने जीवन को परिस्थितियो के अनुसार नवीन साँचे मे ढालना और यह स्मरण रखना:—

निर्व्याजा दयिते ननान्दृषु नता श्वश्रूषु भक्ता भवे,
स्निग्धा बन्धुषु वत्सला परिजने स्मेरा सपत्नीष्वपि।
पत्युर्मित्रजने विनम्रवचना रुष्टा च तद्द्वेषिषु,
स्त्रीणा सवनन तदद्भुतमिद वीतौषध भर्तृषु॥

सच्ची सद्गृहिणी वही है जो अपने पति के साथ छल-कपट न करे, जो अपनी ननदों के साथ नम्र होकर रहे, सासुओ की भक्ति करे, बन्धुजनो के प्रति स्नेहशील हो, नौकरो-चाकरो पर प्रेम रक्खे और अपनी सौतो पर भी ईर्षा-द्वेष न करे। जो अपने पति के मित्रो से नम्रतापूर्ण भाषण करे और पति के द्वेषियो पर रुष्ट रहे। यही सब स्त्रियो के सच्चे आभूषण हैं।



जिनदास के साथ उसका सम्बन्ध करने की इच्छा से सेठजी ने आपकी सेवा मे हमे भेजा है। रीति-रिवाज, नेगचार आदि सब आपकी इच्छा के अनुसार किये जाएँगे।

मुनीम का प्रस्ताव सुनकर मोहन सेठ को असीम प्रसन्नता हुई। वह मन ही मन सोचने लगे—मेरा बेटा वास्तव मे बड़ा पुण्यशाली है। बड़े घर मे उसका सम्बन्ध हो रहा है। इस सबध से जिनदास का खूब महत्व बढ़ जायगा।

किन्तु प्रकट मे वह बोले—मुनीमजी, विवाह-सम्बन्ध समान हैसियत वालो में सोहता है। नगरसेठ क्या प्रतिष्ठा मे और क्या सम्पत्ति मे, बड़े है। मैं उनकी तुलना मे गरीब आदमी हूँ। हम दोनो का रिश्ता कैसे निभेगा?

मुनीमजी—यह कहना ही आपके बड़प्पन का द्योतक है। फिर विवाह-सम्बन्ध धन के साथ नहीं, जन के साथ किया जाता है। मनुष्य सुपात्र होना चाहिए। धन का क्या है! वह तो आता-जाता रहता है।

आखिर शुभ घड़ी में जिनदास और सुगुणी की सगाई-सम्बन्ध हो गया। मिष्टान्न बाँटा गया। कुल की रीति के अनुसार सब आचार किया गया। मुहूर्त्त निकलवा कर विवाह की तिथि निश्चित कर ली गई। दोनो घरो में महोत्सव आरम्भ हो गया। मङ्गल-वाद्य बजने लगे। विवाह का नियत समय आने पर धूम-धाम से पाणिग्रहण हुआ। दोनो पक्षों के स्वजन सम्बन्धी एकत्र हुए। सब का भोजन, वस्त्र आदि से यथायोग्य स्वागत किया गया। श्रीपति सेठ ने अपनी हैसियत के अनुसार दहेज दिया,

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्तिष्ठेत् परमेष्ठिस्तुतिं पठन् ।
किंधर्मा किंकुलश्चास्मि, किंव्रतोऽस्मीति च स्मरन् ॥

ब्राह्म मुहूर्त्त में अर्थात् पौ फटने से पहले ही शय्या त्याग देनी चाहिए। पचपरमेष्ठि की स्तुति का पाठ करना चाहिए और फिर यह सोचना चाहिए कि मेरा धर्म क्या है ? मेरा कुल क्या है-मेरे कुल का आचार कैसा है ? मैंने आत्मकल्याण के लिए क्या-क्या व्रत ग्रहण किये हैं ?

परन्तु इस घर में ऐसी कोई बात दृष्टिगोचर नहीं होती। यहाँ तो सभी गुरुकर्मा-मिथ्यात्वी ही नजर आते हैं। इस धर्महीन घर में मुझसे कैसे रहा जायगा ?

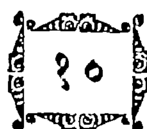
इस प्रकार धर्मनिष्ठा सुगुणी के चित्त में न जाने कितने विचार उठते रहे। उसका मन अत्यन्त उदास हो गया। पीड़ा का अनुभव करने लगी। उसे पल भर भी नहीं सुहाता था।

सुगुणी फिर सोचने लगी—मैंने अपने धर्म की रक्षा के लिए, लज्जा का परित्याग करके भी, पहले ही पिताजी से कह दिया था कि मिथ्यात्वी के साथ मेरा सम्बन्ध न कीजिएगा। मगर—

लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितु कः समर्थः ।

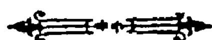
अर्थात्—भाग्य में लिखे को कोई टाल नहीं सकता।

यह सब मेरे ही कर्मों का दोष है। मेरे दुर्भाग्य ने मुझे गड्ढे में गिरा दिया। यहाँ मेरे आचार-विचार की रक्षा होना



१०

सुगुणी का धर्मसंकट



अपनी नव विवाहिता पत्नी को लेकर जिनदास घर आ गये। पुण्य के प्रभाव से धर्मनिष्ठ नर-नारी का सुन्दर सुयोग मिला था। परन्तु सुगुणी ने ससुराल में आकर जो कुछ देखा, उससे उसके कोमल हृदय को बड़ा आघात लगा। उसने देखा कि इस घर मे कहीं भी जैनत्व की झलक नहीं दिखाई देती। यहाँ का आचार-व्यवहार सब जैनधर्म से विपरीत है। जैनी के घर में परडे पर, चूल्हे पर और चक्की पर चदोवा होता है, जिससे कोई जीव-जन्तु सहसा गिर कर मर न जाय। किन्तु यहाँ कहीं भी चंदोवा नहीं है। पानी छानने को छन्ना भी नजर नहीं आता। कन्दमूल पकाये-खाये जाते है। आटा दाल आदि भोजन-सामग्री देखभाल कर काम मे नहीं ली जाती। रात्रि मे चक्की चलाई जाती है। पर्व तिथि के दिन भी हरा शाक खाया जाता है। त्रसजीवों की यतना नहीं की जाती और रात्रि में भोजन किया जाता है। इस घर के लोग सो कर उठते ही अपने-अपने धन्धे में लग जाते हैं—कोई णमोकारमंत्र भी नहीं पढ़ता। प्रत्येक गृहस्थ को चाहिए कि —

मेरे पतिदेव की भक्ति क्या सच्ची थी ? उसमे कोई कपट तो नही था ? मैं अभागिनी हूं कि मुझे पति पर अश्रद्धा हो रही है। मगर दूसरा विकल्प क्या है ? वे सच्चे धार्मिक होते तो इस घर मे निर्वाह कैसे कर लेते ? क्या मैं सचमुच मायाचार का शिकार हो गई हूँ ? सती सुभद्रा भी ठगाई मे आ गई थी। चलो, आज से वही सती मेरे जीवन का आदर्श होगी। एक बार फिर सुभद्रा सती के इतिहास की आवृत्ति करूँगी।

मगर पहला प्रश्न खान-पान का है। खोटा अन्न खाने से मन भी खोटा बन जाता है। कहावत है-जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वानी। कहा भी है—

दीपो भक्षयते ध्वान्त, कज्जल च प्रसूयते।
यदन्न भक्षयेन्नित्य, जायते तादृशी प्रजा॥

देखिए न, दीपक काले-काले अन्धकार का भक्षण करता है तो काला-काला काजल ही उत्पन्न करता है। इस प्रकार जैसा अन्न भक्षण किया जाता है वैसी ही सतान उत्पन्न होती है।

बिना यतना तैयार हुए भोजन का मुझे त्याग है। अनछना पानी पीने का भी मैंने त्याग किया है। ऐसी दशा मे मैं कैसे रह सकती हू ?

तो क्या सासारिक सम्बन्ध का निर्वाह करने के लिए धर्म का परित्याग करना पड़ेगा ? मगर यह असम्भव है। सासारिक सम्बन्ध तो अनन्त बार हो चुके है। धर्म कब मिलता है ? दुर्लभ धर्म की रक्षा करनी ही होगी।

असंभव है। सचमुच कर्मों की गति अद्भुत है। इनके प्रभाव से बड़े-बड़े भी नहीं बचे तो मेरी क्या चलाई? मैं किस बिसात में हू। यथार्थ ही कहा है:—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो, ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥

कर्म की उस शक्ति को नमस्कार है, जिसने ब्रह्मा को ब्रह्माण्ड रूप भांडे गढ़ने के काम में कुंभार की तरह लगाया, जिसने विष्णु को दस अवतार लेने के संकट में पटका, जिसने महादेव को खोपड़ी में भिक्षा लेने को विवश किया, जो सूर्य को प्रतिदिन आकाश में घुमाती रहती है।

दुनिया में देव समझे जाने वाले ब्रह्मा आदि ही जब कर्मों के चक्र से न बच सके तो मैं क्या चीज हूँ! अवश्य ही मैंने पहले अठारह पापों का सेवन किया होगा, जिनके उदय से मुझे इस परिस्थिति में पड़ना पड़ा है!

सुगुणी सोचती है—मगर आश्चर्य तो यह है कि प्रत्यक्ष देखी बात भी झूठी सिद्ध हो रही है! इसमें पिताजी का क्या दोष है? मैंने स्वयं देखा था कि जिनदासजी प्रतिदिन स्थानक में आते थे। बहुत धर्मज्ञ जान पड़ते थे। सबसे आगे बैठते थे! प्रश्नोत्तर करते थे। यतनापूर्वक चलते थे। उनकी यह धार्मिकता देख कर ही पिताजी ने यह संबंध किया है। मैंने स्वयं इस संबंध को इष्ट माना था।

मेरे पतिदेव की भक्ति क्या सच्ची थी ? उसमे कोई कपट तो नही था ? मैं अभागिनी हू कि मुझे पति पर अश्रद्धा हो रही है। मगर दूसरा विकल्प क्या है ? वे सच्चे धार्मिक होते तो इस घर मे निर्वाह कैसे कर लेते ? क्या मैं सचमुच मायाचार का शिकार हो गई हूँ ? सती सुभद्रा भी ठगाई मे आ गई थी। चलो, आज से वही सती मेरे जीवन का आदर्श होगी। एक बार फिर सुभद्रा सती के इतिहास की आवृत्ति करूँगी।

मगर पहला प्रश्न खान-पान का है। खोटा अन्न खाने से मन भी खोटा बन जाता है। कहावत है-जैसा पीवे पानी, वैसी बोलै वानी। कहा भी है —

> दीपो भक्षयते ध्वान्त, कज्जल च प्रसूयते ।
> यदन्न भक्षयेन्नित्य, जायते तादृशी प्रजा ॥

देखिए न, दीपक काले-काले अन्धकार का भक्षण करता है तो काला-काला काजल ही उत्पन्न करता है। इस प्रकार जैसा अन्न भक्षण किया जाता है वैसी ही सतान उत्पन्न होती है।

बिना यतना तैयार हुए भोजन का मुझे त्याग है। अनछना पानी पीने का भी मैंने त्याग किया है। ऐसी दशा मे मैं कैसे रह सकती हूं ?

तो क्या सासारिक सम्बन्ध का निर्वाह करने के लिए धर्म का परित्याग करना पड़ेगा ? मगर यह असम्भव है। सासारिक सम्बन्ध तो अनन्त बार हो चुके हैं। धर्म कब मिलता है ? दुर्लभ धर्म की रक्षा करनी ही होगी।

एक न एक दिन मरना तो होगा ही। इस पृथ्वी पर कोई अमर नहीं रहा और न रहेगा। फिर धर्म को खण्डित करके जीवित रहने से क्या लाभ? धर्म का परित्याग करके जीना तो मरने से भी बुरा है। मैं धर्म के बिना पति का साहचर्य भी नहीं चाहती। कुछ भी हो, मैं धर्म का परित्याग नहीं करूँगी, नहीं करूँगी।

मैं इस घर का अविधिपूर्वक निष्पन्न किया गया भोजन-पानी भी ग्रहण करने में असमर्थ हूँ। अपनी धार्मिका दासी से मँगवा कर पानी पीऊँगी और माता-पिता के घर से लाया हुआ भोजन ही ग्रहण करूँगी। समझाने-बुझाने से यहाँ की व्यवस्था धर्मानुकूल हो गई तो ठीक, अन्यथा अपने मायके में ही रहूँगी।

सुगुणी इस प्रकार सकल्प करके निश्चिन्त हो गई। उसने अपना कार्यक्रम और भविष्य निश्चित कर लिया।

× × × ×

भोजन का समय हो गया। सास और जेठानी ने आकर सुगुणी को भोजन के लिए अनुरोध किया, खूब-खूब आग्रह भी किया। परन्तु वह भोजन करने को तैयार न हुई। वास्तव में सुगुणी बड़े ही धर्मसकट में पड़ी थी। वह कोई उद्दण्ड बालिका नहीं थी कि बड़ों की आज्ञा का उल्लंघन करे। वह सास और जेठानी के आदेश को शिरोधार्य करना अपना कर्त्तव्य समझती थी। किन्तु धर्मरक्षा को सर्वोपरि मानती थी। अतएव उसने जब सास के अनुरोध को स्वीकार न किया तो उसे अत्यन्त मनोवेदना हुई। फिर भी वह विवश थी और अपने आपको ही कोस रही थी।

उस दिन सुगुणी ने अपने मायके से भोजन-पानी मँगवाया और आर्त्तध्यान में पड़ी रही।

सास-ससुर सुगुणी का व्यवहार देख कर चिन्तित थे। उन्हें असली कारण का पता नहीं था। अतएव वह सोचने लगे-बड़े घर की बेटी है। इसे अपने यहाँ सुहाता नहीं होगा। यहाँ का भोजन रुचता नहीं होगा। इसी कारण ऐसा कर रही है। धीरे-धीरे ठिकाने आ जाएगी।

फिर भी सास का हृदय माना नहीं। वह कुछ बूढ़ी—सयानी महिलाओं को साथ लेकर सुगुणी के पास आई और बोली—बहू रानी! क्या बात है, जरा खोल कर कहो। यह ठीक है कि तू बड़े श्रीमन्त की बेटी है, मगर तेरी जिन्दगी इसी घर मे पूरी होगी। इस तरह करेगी तो कैसे निभेगा? मन की बात साफ-साफ कह दे। तेरे सुख के लिए हम कुछ उठा नही रक्खेंगे।

सुगुणी ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—सासूजी, मेरी धृष्टता के लिए क्षमा कीजिए। आपका अथवा इस घर का अपमान करने की लेश मात्र भी मेरी इच्छा नही है। मगर मैं धर्मसंकट में पड़ गई हूं। मुझे आपके सामने इस प्रकार कहना नही चाहिए, तथापि परिस्थितिवश कहने को बाध्य हूं। आप जैन हैं, फिर मिथ्यात्वियो जैसा व्यवहार इस घर में क्यो हो रहा है? माताजी, आप जानती है कि यह जीव चौरासी लाख योनियो में भटकता-भटकता इस स्थिति में पहुँचा है। प्रबल पुण्य के योग से यह उत्तम सामग्री मिली है। आर्यक्षेत्र मिला, उत्तम कुल मिला और जैन धर्म की प्राप्ति हुई। फिर ऐसा मिथ्याचार क्यो?

एक न एक दिन मरना तो होगा ही। इस पृथ्वी पर कोई अमर नहीं रहा और न रहेगा। फिर धर्म को खण्डित करके जीवित रहने से क्या लाभ ? धर्म का परित्याग करके जीना तो मरने से भी बुरा है। मैं धर्म के बिना पति का साहचर्य भी नहीं चाहती। कुछ भी हो, मैं धर्म का परित्याग नहीं करूँगी, नहीं करूँगी।

मैं इस घर का अविधिपूर्वक निष्पन्न किया गया भोजन-पानी भी ग्रहण करने मे असमर्थ हूँ। अपनी धार्मिका दासी से मँगवा कर पानी पीऊँगी और माता-पिता के घर से लाया हुआ भोजन ही ग्रहण करूँगी। समझाने-बुझाने से यहाँ की व्यवस्था धर्मानुकूल हो गई तो ठीक, अन्यथा अपने मायके मे ही रहूँगी।

सुगुणी इस प्रकार सकल्प करके निश्चिन्त हो गई। उसने अपना कार्यक्रम और भविष्य निश्चित कर लिया।

× × × ×

भोजन का समय हो गया। सास और जेठानी ने आकर सुगुणी को भोजन के लिए अनुरोध किया, खूब-खूब आग्रह भी किया। परन्तु वह भोजन करने को तैयार न हुई। वास्तव में सुगुणी बड़े ही धर्मसकट मे पडी थी। वह कोई उद्दण्ड बालिका नहीं थी कि बडो की आज्ञा का उल्लघन करे। वह सास और जेठानी के आदेश को शिरोधार्य करना अपना कर्त्तव्य समझती थी। किन्तु धर्मरक्षा को सर्वोपरि मानती थी। अतएव उसने जब सास के अनुरोध को स्वीकार न किया तो उसे अत्यन्त मनोवेदना हुई। फिर भी वह विवश थी और अपने आपको ही कोस रही थी।

मार्कण्डेय ऋषि कहते है.—

अस्तगते दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते ।
अन्न माससम प्रोक्त, मार्कण्डेयमहर्षिणा ॥

अर्थात्—सूर्य अस्त हो जाने पर जल रुधिर के समान और अन्न मास के समान अर्थात् अपेय और अभक्ष्य हो जाता है, ऐसा महर्षि मार्कण्डेय ने कहा है ।

इसी प्रकार रात्रि में भोजन बनाना भी अतीव हानि जनक और पाप जनक है। लीपना, पोतना, दही बिलोना, झाडू लगाना, पीसना आदि काय भी रात्रि में नही करने चाहिए, क्योकि इनसे त्रस जीवों की हिंसा होती है। भोजन बनाने, दही बिलोने, पीसने मे कोइ विषैला जीव आ जाय तो वह भोजन करने वालो की मृत्यु का भी कारण बन जाता है। कभी-कभी कोढ आदि भयकर रोग हो जाते हैं।

विवेकशील महिलाओ का कर्त्तव्य है कि वे दूध, दही, घी, तेल और पानी जैसे तरल पदार्थों के पात्र उघाड़े न रक्खे। उनमें जीव-जन्तुओ के गिर जाने का भय रहता है। वह वस्तुएँ जहरीली हो जाती है। हिंसा भी होती है, चीज भी बिगडती है और स्वास्थ्य भी खतरे मे पड़ आता है। इस प्रकार दोनों भवो मे हानि होती है।

माताजी ! जिस घर में आटा, दाल आदि भोजन-सामग्री बहुत दिनों तक पडी रहती है और बिना देखे-भाले रांधी-पकाइ जाती है, वह घर श्मशान के समान समझना चाहिए। इ घर

आप के यहाँ अनछना पानी काम में आता है, कन्दमूल खाये जाते हैं, चदोवा नहीं बँधे हैं, रात्रि मे भोजन होता है, रात्रि में चक्की चलाइ जाती हैं, भोजन-सामग्री की देखभाल नहीं की जाती ऐसी स्थिति मे मेरा धर्म यहाँ नहीं निभ सकता। मेरा अनुरोध है कि आप इन सब बातो में संशोधन करें। ऐसा करने से आप सब का भी हित होगा और मैं भी सुखपूर्वक इस घर मे रह सकूँगी।

माताजी ! बिना छना पानी पीने से अनेक हानियाँ होती हैं। कूड़ा-कचरा बाल आदि पेट मे चला जाता है तो अत्यन्त हानि पहुचाता है। पानी मे अनेक त्रस जीव भी रहते हैं। उनकी हिंसा होती है, अतएव नरक मे जाना पड़ता है। इस तरह इस भव मे भी हानि और पर भव मे भी हानि ! कहा है:—

आमसणा सप्तके दग्धे, यत्पापं समुत्पद्यते।
तत्पाप जायते पार्थ ! जलस्यागलिते घटे ॥

हे अर्जुन ! सात गाँव जलाने से जितना पाप लगता है, उतना पाप बिना छना पानी पीने से लगता है।

मासूजी ! रात्रिभोजन तो प्रत्यक्ष ही अनेक अनर्थों का जनक है। रात्रि मे भोजन करने से अनेक मनुष्यो को प्राणो से हाथ धोना पड़ता है। कहा है:—

अधो जोमण रात तणो,
त्रस जीवा रो भक्ष घणो।
कुष्टादि रोगे होवे मरणो,
आगे नरकगति मे पचणो॥

सासूजी ! आप वयोवृद्ध हैं, समझदार हैं । मैं नासमझ बालिका हूँ । धृष्टतापूर्वक बहुत-सी बातें कह गई हूँ । मैं ने अपनी समझ से कुल की शोभा बढ़ाने वाली बातें ही कही है तथापि यदि कुछ अनुचित कहा गया हो क्षमा कीजिए । बहू की बातें सुनकर साधारण श्रेणी की सासू लाल-पीली हो जाती । वह बहू को न जाने कितने मर्मवेधी ताने मारती । कहती—'चल, आई है बड़-बड करने कल की छोकरी कहीं की ! बड़ी बुजुर्ग बनी फिरती है ! लाज नहीं आती सासू के सामने उपदेश देते !'

मगर सुगुणी की सासू गभीरहृदय और सरल थी। अपनी बहू की बातें सुन कर उसने अपमान नहीं, हर्ष अनुभव किया । उसने कहा—धन्य बहू, तुम सचमुच धन्य हो ! बड़े कुल की बेटी की बुद्धि भी बड़ी है । तूने बहुत अच्छी सुमति दी है । कौडी का खर्च नहीं और शरीर की स्वस्थता की रक्षा होती है । इस भव मे भी सुख और परभव मे भी आनन्द ! मेरी बहू भी राजी रहेगी और दुनिया मे देखाव भी अच्छा होगा ! सब तरह से लाभ ही लाभ है । बिटिया, तुमने कोई भी अनुचित बात नही कही है । अब इस घर की व्यवस्था तेरे कथनानुसार ही होगी । सेठजी की सलाह लेकर मैं अभी सब प्रबन्ध करती हूँ । तू प्रसन्न रह । चिन्ता न कर ।

इस प्रकार आश्वासन देकर सासू चली गई । सुगुणी सोचने लगी—इस कुल के व्यक्ति भले मिथ्यादृष्टि हो, पर दुरभिनिवेशी नहीं है । सरल जान पड़ते हैं । इन्हे सुधारने मे अधिक कठिनाई न होगी । यह सोच कर सुगुणी को सन्तोष हुआ ।



लट, जाले, कुंथवा आदि अनेक जीवो के वध का घर है। उस घर के चूल्हे मे और कसाई-खाने मे अधिक अन्तर नही है।

इसी प्रकार जिस घर में चूल्हे पर चदोवा नहीं तना रहता वहाँ छिपकली आदि जीवो के गिर जाने और भोजन के विषैला हो जाने का भय रहता है। उस भोजन से कई बार मृत्यु तक हो जाती है। इसी प्रकार उखल और जलगृह भी बिना चंदोवे के नहीं होने चाहिए।

पहले सफाई और स्वच्छता न रखना और गदगी रख कर खटमलो को उत्पन्न होने देना और फिर भीतो पर, खाटो पर तथा पलंगो पर गर्म जल छिड़क कर निर्दयता पूर्वक उनकी हत्या करना, कितना भारी कुकर्म है! चतुर स्त्रियाँ अपने गृह और सामान को ऐसा रखती हैं कि खटमल या जू आदि जन्तु उत्पन्न ही नहीं हो सकते। इससे इह भव और पर भव-दोनो सुखमय बनते हैं।

बहुत-सी फूहड़ स्त्रियां आचार-मुरब्बा आदि बहुत दिनो तक सँभाल रखती हैं। जब उन पर फूलन आ जाती है, वह सड जाते हैं, उनमे कीड़े पड़ जाते है, तब उन्हे निकाल कर फैंकती है। इस तरह वे अनेक त्रस और स्थावर जीवों का घात करती हैं। अगर लोभ मे पड़ कर उसे खा जाती है तो तरह-तरह की बीमारियो का शिकार होती हैं। कई पापिनी स्त्रियाँ अपने माथे के केशो को बहुत दिनो तक साफ नहीं करती।

चतुर नारियाँ समझदारी से काम करती हैं। वे अपने परिवार मे उज्ज्वल सस्कृति, विशुद्ध व्यवहार और पवित्र वायु मण्डल बनाये रखती है। उनका परिवार अनेक रोगो से और कष्टों से बचा रहता है। उन्हे धर्म का नकद फल मिलता है।

अर्थात्—कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि तो इच्छित वस्तु को ही प्रदान करते हैं, किन्तु सज्जनो के समागम से सुफल की प्राप्ति होती है। और भी कहा है —

जाड्य धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्य,
मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति ।
चेत प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति,
सत्सगति कथय किन्न करोति पुसाम् ॥

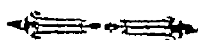
कहिए तो सही कि सत्पुरुषो के समागम से मनुष्यो को कौन-सा लाभ नही होता ? सत्सगति बुद्धि की जड़ता को नष्ट कर देती है, वचन मे सत्य का सिचन करती है, मान-सन्मान बढ़ाती है, पापों को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और सभी दिशाओ मे कीर्त्ति का प्रसार करती है।

सुगुणी विचार करने लगी-सगति के महत्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? ऐसी स्थिति मे पतिदेव इतने दिनो तक अपने घर के मिथ्याचार को क्यो नहीं हटा सके ? और इस घर में रहकर उन्हे जैनधर्म की प्राप्ति कैसे हो गई ? उनकी धर्मक्रिया सच्ची है या कपटक्रिया है ? मैं कपट के जाल मे तो नही पड़ गई हूं ? उनकी श्रद्धा सच्ची होती तो यह कुल कभी का सुधर गया होता ! अगर यह सब कपटाचार है तो सम्यक्त्व का भी सद्भाव कैसे माना जा सकता है ?

सुगुणी कुछ भी निश्चय नही कर सकी। पति के प्रति अविश्वास करने में उसे अपरिमित मनोव्यथा का अनुभव हो रहा था, किन्तु मन से शका निकल भी नहीं रहा था। आज



पति-पत्नी-संवाद



सुगुणी की सासू ने जिस सरलता से उसकी बातों को स्वीकार किया, उसे देखकर एक ओर उसे प्रसन्नता हुई तो दूसरी ओर एक नवीन विचार ने उलझन में डाल दिया। सुगुणी के अन्तस्तल में सहसा यह विचार आया कि इस घर वाले बड़े सरलहृदय हैं और अनायास ही समझ जाएँगे, तो फिर क्या कारण है कि दीर्घकाल से इसी परिवार में रहते हुए भी पतिदेव इस परिवार को नहीं सुधार सके ?

सत्संगति का प्रभाव अवश्य पड़ता है। सत्संगति से सब प्रकार के सुख की प्राप्ति होती है। जो सुसंगति पाकर भी नहीं सुधरता, समझना चाहिए कि वह अत्यन्त गुरुकर्मा जीव है। कहा भी है —

> कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते,
> सा कामधुक् कामितमेव दोग्धि।
> चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते,
> सतां हि सङ्गः सुफलं प्रसूते ॥

तुर क्यो देख रहा हूं ? क्या मैं तुम्हारे विषाद का कारण जानने का अधिकारी हूँ ?

सुगुणी–क्यो नही प्रिय ! मेरी यह शिकायत है कि आपने मेरे साथ कपट किया है। मैं नही जानती थी कि आपके घर मे ऐसा अधर्म है ! मैं आपकी धार्मिकता की प्रशंसा सुनकर मुग्ध हो गई थी, पर आज मेरा भ्रम दूर हो गया। आपकी वास्तविकता का मुझे पता चल गया। आप श्रावक कहलाये, धर्म के वेत्ता बने, और घर में यह अनर्थ ! आचार विचार का ठिकाना ही नही !

जिनदास ने सुगुणी को चिढ़ाने के अभिप्राय से उत्तर दिया—प्रिये ! यहाँ आचार कहाँ ? आचार तो हलवाई के घर होता है। मेरे यहाँ तो केवल विचार ही है !

सुगुणी, जिनदास का मुँह ताकती रह गई।

जिनदास कहते गये—प्रियतमे ! इच्छित खाओ-पीओ, पहनो-ओढो और नित्य नूतन भोग भोगो। इसी विचार मे जीवन का आनन्द है ! तुम्हारी हमारी जोडी कितनी अलबेली है।

सुगुणी—सद्गुरु की सगति करके आपने कितना सुन्दर उपदेश ग्रहण किया है ! धन्य हो प्राणनाथ ! जानकार होकर भी अनजान बन रहे हो ? भग तो नही पी ली है ?

जिनदास—क्या मैं कोई अनुचित बात कह रहा हूं।

सुगुणी—और नही तो क्या ? मानव-जीवन क्या भोग भोगने के लिए है ?

का सारा दिन उसने नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों में ही व्यतीत किया।

मध्यान्ह में अपने अमित्त और प्रखर तेज से देदीप्यमान दिवाकर अस्ताचल की ओर अग्रसर हुआ। अब उसके तेज मे वह प्रखरता नहीं रही थी। धीरे-धीरे वह अस्ताचल के अंक मे विलीन हो गया। सन्ध्या की लालिमा ने थोड़ी देर के लिए विश्व के लिए अपना वैभव फैलाया। मगर वह भी अन्त में अंधकार मे छिप-गई। प्रकृति की यह क्रीडा जगत् के जीवों को महान् शिक्षा है। मगर कौन इस ओर ध्यान देता है?

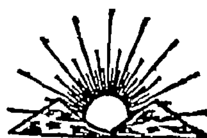
बडे भोर चहुँ ओर ललाई जो भू पर आई थी,
नभ से उतर प्रभा दिनकर की मध्य दिवस आई थी।
सन्ध्या-राग रंगीला मन को तुरन्त मोहने वाला,
हाय! कहाँ अब जब फैला है, यह भीषणतम काला।

हाँ, रजनी अपने सहचर तिमिर के साथ अवतरित हुई। भारत के अखिल भूमण्डल पर उसका साम्राज्य स्थापित्त हो गया। तब चन्द्रमा की तरह जिनदास सुगुणी के समीप आये। जिनदास को आता देख, सत्कार करने के अभिप्राय से वह अपने आसन से खड़ी हो गई। जिनदास ने मुस्कराते चेहरे से सुगुणी की ओर दृष्टि डाली, परन्तु उसका उत्तर उन्हे मुस्कराहट के साथ नहीं मिला। सुगुणी के चेहरे पर चिन्ता की परछाई स्पष्ट दिखाई दे रही थी। जिनदास ने तत्काल सुगुणी के चिन्ताभाव को समझ लिया। उन्होंने अत्यन्त मधुर स्वर मे सुगुणी से प्रश्न किया— प्रिये! गृहस्थ जीवन के इस महापर्व के अवसर पर तुम्हे चिन्ता-

है। आपकी धर्मनिष्ठा देखकर ही आपको वरण किया है। अब आप हृदय की सच्ची बात कहिए, जिससे मेरे मन की उलझन दूर हो जाय।

जिनदास, सुगुणी की गहरी निष्ठा समझ गये। उसे अतीव उद्विग्न जान कर कहने लगे—प्रिये ! तुम यथार्थ कहती हो। मै भी यही जानता और मानता हूँ। किन्तु घर वालो को कैसे समझाऊँ ? यह लोग ठेठ से धर्मबाह्य हैं। लोक-परलोक की बात समझते नहीं। मैंने अनेक बार समझाने का प्रयत्न किया, मगर सब निष्फल हुआ। मैंने गुरुजी से ऐसा ही प्रत्याख्यान लिया है कि अंगीकृत व्रतो का मैं अपनी आत्मा से पालन करूँगा।

सुगुणी—मैंने आज माताजी को समझाया है, आप पिताजी को समझाइएगा।



जिनदास—गृहस्थ जीवन क्या योगाभ्यास करने के लिए है ?

सुगुणी—निस्सन्देह ! गृहस्थजीवन योगी-जीवन के योग्य सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए है, भोग भोगने के लिए नहीं। भोगों से तो कदापि तृप्ति नहीं हो सकती। यह जीव अनन्त मेरुपर्वतों के बराबर मिश्री खा चुका है, क्या तृप्त हुआ ? अनन्त वस्त्र धारण कर चुका है, फिर भी तृप्त नहीं हुआ। तो इस एक जीवन में खा-पीकर और पहन-ओढ़ कर कैसे तृप्त हो जायगा ? भोग किंपाक फल के समान है। देवलोक के भोगों से भी तृप्ति न हो सकी तो मानव के घिनौने भोगों से कैसे होगी ? यही सोचकर मैं धर्मनिष्ठा बनी हूं। मुझे आश्चर्य है कि आप धर्मज्ञान प्राप्त करके ऐसी बातें कर रहे हैं ! सच है, सम्यग्दर्शन के अभाव में क्रिया करना भी निरर्थक होता है। कहा भी है—

एक समकित पाया विना, जप तप किरिया फोक।
जैसे लीपन छार को, समझो रहे तिलोक ॥
एक समकित पाया विना, जप तप किरिया फोक।
जैसे मुरदो सिंगारवो, समझो रहे तिलोक ॥

जिनदास—पत्नी क्या, गुरुणीजी मिली हैं ! थोड़ा उपदेश और फरमाइए।

सुगुणी—प्रियतम, उपहास न कीजिए। मैं उपदेश देने योग्य नहीं हूँ। हृदय में परलोक का खटका रखिए। यथाशक्ति धर्म का आचरण कीजिए और इस मूल्यवान् मनुष्यजन्म को सुधारिए। मैंने आपका यह सुन्दर रूप देखकर हाथ नहीं पकड़ा

हुए दूसरा बनवाना, सचित्त मिट्टी का भक्षण करना, ओले-बर्फ खाना, व्यर्थ बडे-बडे पखे लगवाना आदि का त्याग करने से स्थावर जीवो की हिंसा से बचाव किया जा सकता है।

निरपराध त्रसजीवो का जान-बूझ कर हनन करने वाला जैन नहीं कहला सकता। अतएव गृहस्थ को इस हिंसा से बचना चाहिए। दीपक, चूल्हा, तरल पदार्थ आदि को खुला कभी नहीं रखना चाहिए। रात्रि मे भोजन बनाना, पीसना, कूटना, लीपना, दही बिलोना और झाड़ू देना आदि क्रियाएँ नही करनी चाहिए। अनछने पानी का उपयोग न करे। बिना देखी वस्तु को काम मे न लावे, न पकावे, न खावे। घुने अनाज को न धूप मे रक्खे और न खावे। उसे एकान्त मे रख दे। ऐसा करने से गृहस्थ भी बहुत से पापो से बच सकता है।

इतना कहकर अन्त मे जिनदास ने कहा—पिताजी! जीव दया के उपयुक्त कार्य करने से हमारे जीवन व्यवहार मे कोई बाधा उपस्थित नही होती। स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है और पापो से भी बचाव होता है। अतएव अपने घर मे ऐसी ही व्यवस्था करनी चाहिए। यह व्यवस्था इह-परभव मे भी कल्याण करने वाली है।

जिनदास का कथन सुन कर सेठ सोहन शाह भी अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होने अपनी पत्नी से इस सम्बन्ध मे बातचीत की और घर मे धर्मानुकूल समस्त व्यवस्था करने की हिदायत कर दी।

सुगुणी प्रातःकाल उठ कर प्रतिक्रमण करती। तत्पश्चात् वह गृहकार्य की व्यवस्था बिठला देती। वह भोजनशाला में चली जाती और अपने आप चूल्हे, बरतन, लकडी आदि यतना से



परिवार का सुधार

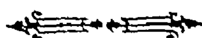


दूसरे दिन अवसर देख कर जिनदास अपने पिता के समीप पहुंचे। जाते ही उन्होंने चरणों में प्रणाम किया। सोहन शाह ने अपने धर्मनिष्ठ पुत्र पर सुधा सिक्त दृष्टि डाल कर कहा— चिर जीव होओ बेटा! आज क्या सुना है?

जिनदास ने हाथ जोड कर कहा—गुरुदेव ने आज गृहस्थ धर्म का व्याख्यान करते हुए जैनाचार का निरूपण किया था। बतलाया था कि-गृहस्थ के बारह व्रत हैं, उनमें पहला व्रत अहिंसा है। अहिंसा सभी धर्मों में उत्तम मानी गई है। गुरुजी ने उस पर बहुत सुन्दर विवेचना की। जीव दो प्रकार के हैं-त्रस और स्थावर। चलते-फिरते द्वीन्द्रिय आदि जीव त्रस कहलाते हैं और स्थिर रहने वाले एकेन्द्रिय जीव स्थावर है। गृहस्थ को त्रस जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा का त्यागी होना चाहिए और स्थावर जीवों की भी यथासंभव यतना करनी चाहिए। स्थावर जीव पाँच प्रकार के हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इन जीवों की निरर्थक हिंसा नहीं करनी चाहिए। आवश्यकता से अधिक इनका व्यवहार नहीं करना चाहिए। खानें खोदने का धंधा करना, एक मकान होते



गृह—कलह



ज्ञान के महत्व की कही परिसीमा नही। ज्ञान आत्मा की प्रखर शक्ति है। ज्ञान की इस शक्ति से जीव राग और द्वेष पर विजय प्राप्त करता है। जिसे ज्ञान की शक्ति प्राप्त नही है जो अज्ञान से आवृत है, वह सहज ही अशुभ कर्मों का बन्ध कर लेता है और अपनी आत्मा को मलिन बनाता रहता है।

जिन भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्वो का ज्ञान प्राप्त करके उन पर सम्यक् श्रद्धान करने वाला और कषायो को पतली करके समभाव मे विचरने वाला पुरुष-पुंगव ही मुक्तिधाम का अधिकारी बन सक्ता है।

मानवस्वभाव कुछ ऐसा ही है कि उत्तम जन उत्तम जनो की और अधम जन अधम जनो की सगति खोजता है और उसी मे प्रसन्न रहता है। प्रसन्नता भले दोनो प्रकार के मनुष्यो को हो, मगर एक की प्रसन्नता कल्याण का और दूसरे की प्रसन्नता अकल्याण का कारण बनती है।

सुगुणी और जिनदास दोनो ही आचार एव विचार मे उत्तम थे। दोनो की बडी ही उत्तम जोडी मिल गई थी। अतएव

पूंज कर रख देती थी। भोजन की दाल, शाक, आटा आदि समस्त सामग्री को स्वयं भलीभांति देख लेती थी। रसोई और पानी आदि की जगह चंदोवा तनवा दिये गये थे। इस प्रकार सब गृहव्यवस्था करने के पश्चात् सुगुणी व्याख्यान सुनने जाती थी। अब सुगुणी को सन्तोष था। वह सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगी।

जिनदास भी रात्रिक प्रतिक्रमण करके माता, पिता, भ्राता और भौजाइयों को प्रणाम करता था। तत्पश्चात् पिता की अनुमति लेकर धर्मोपदेश सुनने चला जाता था। इस प्रकार जिनदास और सुगुणी दोनों ही धर्माराधन के साथ अपना आदर्श गृहस्थजीवन यापन करने लगे।



उपदेशो हि मूर्खाणा, प्रकोपाय न शान्तये ।
पय पान भुजङ्गाना, केवल विषवर्द्धनम् ॥

अर्थात्—मूर्खों को दिया हुआ उपदेश कोप का कारण बनता है, शान्ति का नहीं। साँपों को दूध पिलाना केवल उनके विष को बढ़ाना है।

जिनदास के भाइयो ने द्वेष के वशीभूत होकर निराले-निराले सिद्धान्त गढ़ लिये। वे कहने लगे—परलोक की बात गप्प है। धर्म करने से प्रत्यक्ष ही दुःख देखना पड़ता है। दान देने से गाँठ की पूँजी भी चली जाती है। तपस्या करने से तन दुर्बल हो जाता है। शील पालने से मनुष्य को सन्तानहीन होना पड़ता है!

सुगुणी उनके द्वेष का प्रधान केन्द्रस्थल थी। उस पर दोषारोपण करते हुए कहते—इस घर में जब से छोटी बहू आई है, ढोग ही ढोग फैल गया है। इसने आकर घर के सुख को स्वाहा कर दिया है। इसी ने सबके मुँह पर छींका बँधवा दिया है।

जिनदास अतीव नम्रभाव से समझाने का प्रयत्न करता—"बन्धुवर, ऐसा समझना आपका भ्रम है। पूर्व भव मे दान देने का ही यह फल है कि इस जन्म मे बिना प्रयास किये सम्पत्ति मिली है। हम लोग क्या पूर्वभव की सम्पदा बाँध कर यहाँ लाये हैं? और यदि व्यभिचार से कुल की वृद्धि होती है तो वेश्या बहुत सन्तानवती होनी चाहिए। तप से तन क्षीण नही होता, वरन् नीरोग होता है। आप मुंह बाँधने की बात कहते है सो

दोनो प्रसन्न रहते और एक दूसरे के धर्म में सहायक हो रहे थे। जब पत्नी, पति की शक्ति बन जाती है और पति, पत्नी का पराक्रम बन जाता है, तो दोनो का सुन्दर विकास होता है। दोनो पारस्परिक सहायता से सामर्थ्यशाली बनते है। सुगुणी, जिनदास की शक्ति थी और जिनदास सुगुणी का पराक्रम था। अथवा यो कह सकते है कि सुगुणी सुमति थी तो जिनदास विवेक था।

जिनदास और सुगुणी एक पहर रात रहते शय्या त्याग देते थे और प्रात-कृत्यों से निवृत्त होकर धर्मचर्चा किया करते थे। तत्पश्चात् श्रावकाचार के अनुसार व्यवहार करते थे। मुनियो की उपासना करते, माता-पिता की सेवा करते और दान आदि करते थे।

धर्मनिष्ठ मनुष्य प्राणी-मात्र के हित की कामना करते है। वे स्वप्न में भी किसी का अनिष्ट नहीं चाहते। जिनदास और सुगुणी दोनो ने भाइयो और भौजाइयो को सन्मार्ग पर लाने के यथाशक्य सब प्रयत्न किये। उपदेश दिया, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का फल बतलाया, परन्तु कर्मोदय के कारण उन पर किंचित् भी अनुकूल प्रभाव न पड़ा। प्रभाव पड़ा भी तो विपरीत ही। इनकी शिक्षाओं से तीनों भाइयो और तीनो भौजाइयो के चित्त मे आर्त्तध्यान की वृद्धि हुई, ईर्षा का उदय हुआ और द्वेष का बीजारोपण हुआ। जैसे वर्षा होने से जवासा हरा होने के बदले सूख जाता है, उसी प्रकार सुशिक्षा पाकर छहो प्राणी विपरीत श्रद्धा में अधिक दृढ़ होने लगे। यथार्थ ही कहा है —

इस प्रकार निश्चय करके यह आदर्श दम्पति मौन हो रहा। वह अपनी धर्मक्रिया मे सुदृढ था, मगर दूसरों को कभी सीख नहीं देता था। मगर जिसके अन्तःकरण मे ईर्षा की आग सुलगती रहती है, वह स्वय तो जलता ही है, साथ ही आस पास वालो को भी जलाता है। दूसरो को शान्त और प्रसन्न देखकर उसकी ईर्षाग्नि और अधिक भड़कती है।

यद्यपि जिनदास और सुगुणी की ओर से कलह का कोई कारण नहीं उत्पन्न किया जाता था, बल्कि कलह को टालने का ही निरन्तर ध्यान रक्खा जाता था, मगर वह तीनों दम्पति शान्ति पसद नहीं करते थे। अतएव वह बात-बात में झगडा करने को उद्यत हो जाते थे। फिर भी जिनदास और सुगुणी अत्यन्त धैर्य और शान्ति के साथ सब कुछ मौनभाव से सहन करते जा रहे थे। इससे उन्हें द्रव्य और भाव-दोनों तरह का लाभ था। द्रव्य से लाभ यह था कि लोक में उनके यश का प्रसार होता था और माता-पिता उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। भाव से लाभ यह था कि सहिष्णुता और समभाव से उनके कर्मो की निर्जरा हो रही थी। कहा भी है.—

भावे सहे समभाव थी, समर्थ एक ही गाली जी,
ते अनन्त वर्गणा कर्म की, देवे क्षण मे बाली जी ॥

जो समर्थ हो कर भी, अन्त करण से एक भी गाली को सहन कर लेता है, वह क्षण भर में कर्म की अनन्त वर्गणाओ को भस्म कर देता है।

उधर सुगुणी की तीनों जेठानियों का हाल बडा विचित्र था। तीनो फूहड़ थी, गुणहीन थी, फिर भी अहकार की

उत्तम वस्तु के बरतन का मुंह बाँधा जाता है। इस तरह आपको उलटा न समझ कर सीधा समझना चाहिए।"

जिनदास का यह उत्तर सुनकर उसके भाइयो को प्रत्युत्तर न सूझा तो वह कहने लगते—जा, जा, तू तो औरत का क्रीत दास बन गया है! इन बूढ़े और बुढ़िया की अक्ल सठिया गई है! यह भी तुम दोनो के फन्दे मे फँस गये हैं।

इस प्रकार के अयोग्य वचन सुनकर जिनदास और सुगुणी विचार करते—यह भारी कर्म वाले जीव है। इन्हें उपदेश किस तरह लग सकता है? जिनागम मे कहा है कि जब कर्मों की स्थिति कोडाकोडी सागरोपम से भी कम हो जाती है, तभी जीव धर्म के मार्ग पर आ सकता है। अतएव इन बेचारो का क्या दोष है? इनके कर्मों का ही दोष है, जिनके कारण इनकी मति विपरीत हो रही है। पीलिया के रोगी को धवल वस्तु भी पीली-पीली ही नजर आती है। इसी प्रकार जिसका जैसा भविष्य है, उसकी बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है। हमने अपने कर्त्तव्य का पालन किया। इन्हे सन्मार्ग पर लाने का भरसक प्रयत्न किया। वह नही समझते तो हम क्या करे? जो जैसा करेगा वैसा भोगेगा।

जिनदास और सुगुणी ने यह भी निश्चय कर लिया कि जब-जब इन्हे धर्म का उपदेश दिया जाता है, तब-तब कलह होता है। अतएव कलह से बचने और परिवार की शान्ति की रक्षा करने के लिए यही ठीक होगा कि धर्म का उपदेश ही न दिया जाय। माता-पिता घर में अनाचार तो होने ही न देंगे। कुछ होगा तो उन्हीं से हम कह देंगे। इसी में हमारी शोभा है।

स्त्रियाँ, पुरुष की मृत्यु का कारण होती हैं, स्त्रियाँ पुरुष की आपत्तियों का कारण होती है, स्त्रियाँ पुरुष के कलह का कारण होती हैं, और यही स्त्रियाँ पुरुष के नरक गमन का भी कारण होती हैं।

स्त्रियाँ अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ करके पुरुष को मूढ बना देती हैं, मदोन्मत्त कर देती हैं, नाना प्रकार की विडम्बनाएँ पैदा करती हैं, भर्त्सना करती हैं, रमण कराती हैं और फिर विषाद भी उत्पन्न करती है। यह दया के साथ पुरुष के हृदय मे प्रवेश करके न जाने किन-किन अनर्थों को नहीं उत्पन्न करती! इनकी लीला अपरम्पार है।

स्त्रियो के बहकावे मे आकर तीनों भाई सोचने लगे—हम लोगो को जिनदास से पृथक हो जाना चाहिए। उन्होने आपस मे मिल कर पक्का निश्चय कर लिया कि अब हम सम्मिलित नहीं रहेंगे।

एक दिन तीनो मिलकर अपने पिता सोहन साहू के पास पहुँचे। साहू ने उनके आने का प्रयोजन पूछा तो वह बोले—'पिताजी! पुरानी कहावत है—साठी बुद्धि नाठी।' अर्थात् मनुष्य जब साठ वर्ष का हो जाता है तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। आपको देख कर हमे इस कहावत की सत्यता का विश्वास हो गया है। दुःख की बात है कि आपकी बुद्धि भी नष्ट हो चुकी है। आपने जिनदास को सिर पर चढा लिया है। वह कुछ भी काम नहीं करता! मुँह बाँध कर और हाथ मे पूंजणी लेकर बैठा रहता है। वह बाबाओ की संगति करके थोड़े ही दिनो मे स्वयं बाबा बन जाएगा। उसे आपका समर्थन प्राप्त है आप उसे चढाते रहते है। इस कारण वह हममे से किसी की

पुतलियाँ थीं। सुगुणी के सन्मान-सत्कार को देखकर उनके कलेजे में असह्य दाह होती थी। वे सदा 'छेड़खानी' किया करती थीं। फिर भी शान्ति का अवतार सुगुणी ध्यान नहीं देती थी। वह जेठानियों की छेड़छाड़ की सदैव उपेक्षा किया करती। वह अपने नित्य-नियम में मगन रहती। विशेषता तो यह थी कि सुगुणी अपनी जेठानियों का पूर्ववत् ही आदर किया करती।

सुगुणी के इस सद्व्यवहार का भी उन पर कोई प्रभाव नहीं पड सका। वे अपने स्वभाव का परित्याग न कर सकीं। बात-बात में झगड़ा करने को तैयार रहती। रात्रि में अपने-अपने पति के कान भरती रहती थीं। कोई कहती—"जिनदास धनवान् की बेटी को व्याह लाया है तो घमण्ड का मारा धरती पर पाँव ही नहीं रखता! सासूजी बहू के हुकम में चलती हैं और बाप बेटे का गुलाम बना हुआ है। हम लोग किसी गिनती में ही नहीं हैं। फिर भी आप इतने भोले है कि कुछ समझते ही नहीं। इन बातों पर ध्यान ही नहीं देते। हम से यह अपमान नहीं सहा जाता। अपमान के घूँट पीने की अपेक्षा तो विष का प्याला पी लेना कहीं उत्तम है। भला यह भी कोई जीवन है! आप दिन-रात परिश्रम करके धनोपार्जन करते हैं और हम रात-दिन घर के काम-काज मे दासी के समान व्यस्त रहती हैं।"

दूसरी अपने पति के कानों मे हृदय का विष उड़ेलती हुई कहती थी—"प्राणनाथ! हमारे घर में सुगुणी क्या आई है, जादूगरनी आई है! इसके पाँव पडते ही घर का रंग-ढंग बदल गया। सुख पर पानी फिर गया। इसने सेठ-सेठानी को अपनी माया के चगुल मे फाँस लिया है और घर की मालकिन बन बैठी है! आप रानी बनी है, जिनदास राजा बना फिरता है! हम तो



पिता का उद्‌बोधन



उनके अभागे लड़के समझते थे कि सोहन साहू की बुद्धि सठिया गई है, परन्तु वास्तव में वह समझदार व्यक्ति थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक उतार-चढाव देखे थे। एक समय वह करोड़पति सेठ थे। दिन बुरे आये तो सारी सम्पति समाप्त हो गई और उन्हें फूस की झोपड़ी मे रहकर दिन बिताने पडे। मगर वह दिन भी न रहे। समय बदला और फिर वह सम्पन्न हो गए। अवनति और उन्नति के कारणों को वह भलीभाँति जानते थे। उन्हे पता था कि तीन लड़को की बदौलत उनकी क्या स्थिति हुई और जिनदास के पुण्यप्रभाव का क्या फल हुआ? उन्हें यह भी विदित था कि आज परिवार की सम्पन्न अवस्था का मुख्य कारण जिनदास का पुण्य है। समस्त परिवार उसी के पुण्य के प्रभाव से आनन्द पूर्वक रह रहा है। एक के पुण्य से अनेको को साता उपजती है। सम्मिलित परिवार की यह भी एक विशेपता है।

जब सोहन सेठ के तीनों बड़े लड़कों ने अलग होने की माँग की तो उन्हे समझते देर नहीं लगी कि इनका दुर्भाग्य जोर मार रहा है। कदाचित् यह लोग जिनदास से अलग हो गये तो

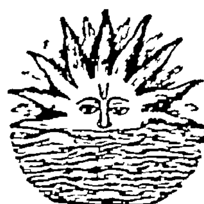
बात पर कान नहीं देता। अतएव या तो उसे समझा कर काम धंधे में लगाइए या हम लोगों को न्यारा कर दीजिए। सब अलग-अलग रहेंगे तो सभी सुखी रहेंगे। अपना-अपना करेंगे और अपना-अपना खाएँगे। अब हम अपनी कमाई पर उसे गुलछर्रे नहीं उडाने देंगे।

पिताजी! जल्दी से जल्दी ऐसी व्यवस्था कर दीजिए। अपनी लाज बचानी हो तो ढील न कीजिए। अन्यथा दुनिया में आपकी बेइज्जती होगी। लोक-हँसाई होगी

नीतिकार कहते हैं —

निरुत्साह निरानन्द, निर्वीर्यमरिनन्दनम्।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम्॥

अर्थात्—उत्साहहीन, आनन्द से रहित, पराक्रम शून्य तथा अपने व्यवहार से शत्रुओं को आनन्दित करने वाले पुत्र को कोई माता जन्म न दे, यही बेहतर है।



वसन्तपुर मे कमलाकर नामक एक सेठ रहते थे। वह बडे धनवान् थे और यशस्वी थे। दूर-दूर तक उनकी कीर्ति फैली थी। उनकी पत्नी का नाम था-सुन्दरी। सुन्दरी के उदर से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। सभी रूपवान्, गुणवान्, बुद्धिमान और पुण्य-वान् थे। शरीर से बलिष्ठ थे। सभी कुछ था, मगर एक बहुत बड़ा दोष उनमें यह था कि वे एक दूसरे के प्रति ईर्षा रखते थे। किसी को किसी की प्रशसा और बलिष्ठता नही सुहाती थी। ईर्षा ने जब उग्र रूप धारण किया तो पाँचो भाई आपस मे लडने झगड़ने लगे। फूट का बीजा-रोपण हो गया। उनसे अकुर भी फूटने लगे।

यह स्थिति देख कर कमलाकर सेठ सोचने लगे-पाँचो भाई मिल-जुल कर रहे तो पाण्डवो की तरह अजय हो सकते है। पाँचों मे ऐसी ही फूट रही तो पचत्व को प्राप्त हो जाएँगे। यह सोच कर उन्होंने अपने पुत्रों को समझाने का बहुत प्रयत्न किया। फिर भी सफलता न मिली। उनकी बात पर किसी ने कान नही दिया। पाँचो का अन्त करण अभिमान के उन्माद से उन्मत्त हो रहा था। कोई झुकने को तैयार न था। सेठ कमलाकर दुखी हो गये।

एक दिन एक लकडहारी आई वह सेठ के घर लकडियो का भारा ले कर आई थी। सेठ ने भारे को खरीद लिया और चौक मे रखवा दिया। लकडहारी को दाम देकर विदा कर दिया। तदनन्तर उन्होंने अपने लडको को बुला कर कहा—बेटा, तुम पाँचों बडे पराक्रमी हो, बलशाली हो। नवयौवन के अभिमान में छके हो। शत्रु को पास नही फटकने देते। मेरी एक बात मानों तो कहू ?

दाने-दाने को मुँहताज होंगे ! अतएव शान्ति के साथ लड़कों की बात सुन कर उन्होंने कहा—पुत्रो ! तुम लोग वयस्क हो गए हो। तुम्हें बाँध कर रखना मेरी शक्ति से बाहर है। चाहोगे तो अलग कर दिये जाओगे। लेकिन मेरे सिर के बाल पक गये हैं। मेरे अनुभव से लाभ उठाओगे तो तुम्हारा ही कल्याण होगा। पिता का हृदय कपूत से कपूत बेटे पर भी निष्ठुर नहीं हो सकता। इसलिए उतावल न करो। शान्ति के साथ मेरी बात पर विचार करो।

पुत्रो ! कौन जानता है कि किसके भाग्य से कौन खा रहा है ? सम्मिलित हो तो सब का भाग्य भी सम्मिलित है। अलग होकर कुछ लाभ नहीं उठाओगे। एकता में सुख और सम्पत्ति है, फूट में लूट के सिवाय कुछ नहीं। चारों भाई मिलकर रहोगे तो सुखी रहोगे। तुम्हारे शत्रु भी कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। एकता बड़ी चीज है। कहा भी है.—

विन एकता संसार मे पाता विजय कोई नहीं,
विन एकता मन काय वाचा मोक्ष भी मिलता नही।
है कौन सा संसार-सुख वह वश जिसे करती नही,
आतंक भी है कौन सा वस वह जिसे हरती नही ॥

पतले-पतले तन्तुओं के मेल से बने रस्से से बड़े-बड़े गजराज बाँधे जाते हैं। बहुत-सी कीड़ियाँ मिलकर नाग को भी मार डालती है। अनेकों के सम्मिलन से बड़े-बड़े काम होते हैं। एकता के चमत्कार संसार मे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। फिर भी तुम एकता को भंग करके अनेकता उत्पन्न करना चाहते हो ? एकता के विषय मे एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है.—

अलग-अलग हो गईं तो अनायास ही टूट गईं। इसी प्रकार तुम पाँचो मिल-जुल कर रहोगे तो बडे से बड़े शक्तिशाली भी तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। और यदि अलग रहोगे तो अनायास ही कोई तुम्हे हानि पहुंचा सकेगा। तुम एक होकर रहोगे तो अनेको शत्रुओ का सफलता के साथ सामना कर सकोगे और अनेक होकर रहोगे तो एक का सामना भी न कर सकोगे।

प्रत्यक्ष दृष्टान्त देख कर कमलाकर सेठ के पाँचों लड़के तत्काल समझ गये। उन्होने कहा—आप जैसे कुशल पथप्रदर्शक पिता को पाकर हम धन्य हुए। आपके अनुग्रह का ऋण चुकाना हमारे लिए असम्भव है। अब हम पाँचो भाई भूल-चूक कर भी नही लडेंगे। हिल-मिलकर प्रेम से रहेगे।

अपने लड़कों की समझदारी देखकर कमलाकर सेठ को कितना आह्लाद हुआ होगा, इसकी कल्पना भी कठिन है।

यह दृष्टान्त सुनाकर सोहन शाह बोले—कमलाकर सेठ भाग्यवान् थे कि उनके लडके चट समझ गए। बेटा, क्या तुम मुझे ऐसा ही भाग्यवान् नही बना सकते? क्या तुम उनके लडको से कम समझदार हो? जरा एकता की महत्ता का विचार करो। मेरी बात न मानोगे तो निश्चय ही तुम्हें घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

सोहन शाह का कथन सुन कर तीनो लड़के चुप रह गये। कोई उत्तर न दे सका। चुपचाप उठ कर चल दिये और अपने-अपने काम में लग गये। उन्होने एकता से रहने का विचार कर लिया था, फिर भी कोई स्पष्ट रूप से यह बात कह न सका। सोहन सेठ ने तत्काल शान्ति हुई समझ कर शान्ति की साँस ली, फिर भी उनका मन पूरी तरह शान्त न हो सका।

सब ने कहा—हाँ-हाँ, क्यों नहीं मानेंगे ! कहिए।

सेठ बोले—कोई बड़ी बात नहीं है, कष्ट का काम भी नहीं है। मैं यह चाहता हूं कि तुममें से कोई इस बँधे भारे को तोड दे ! जो इसे तोड़ देगा, उसे बड़ा पराक्रमी समझूँगा।

पिता की आज्ञा होते ही सब से बड़ा लड़का अकड़ कर उठा और भारे के पास पहुचा। उसने अपनी समस्त शक्ति लगा दी। पर भारे में बँधी एक लकड़ी न टूट सकी। वह लज्जित होकर हट गया।

इसी प्रकार पाँचों ने अपना-अपना जोर अजमाया, पर भारा टूट न सका। सब का प्रयत्न निष्फल हुआ।

पाँचों भाई निराश हो गये। बोले—पिताजी, हमने पूरा बल लगा दिया। यह भारा नहीं टूट सकता।

सेठ—फिर प्रयत्न करो, शायद टूट जाय।

लड़के—कुछ भी कसर नहीं पिताजी, नहीं टूटता।

सेठ—तो एक काम करो। भारे को खोल डालो और एक-एक लकड़ी तोडो।

लडकों ने एक-एक लकड़ी ली और उसी समय तड़ाक् से तोड डाली।

सेठ बोले—पुत्रों ! इस उदाहरण से क्या शिक्षा मिलती है ? जब तक सब लकडियाँ मिली हुई थीं, टूट नहीं सकीं। तुम पाँचों ने पूरा जोर लगाया, मगर वह निष्फल हुआ। जब वह

हम साफ बताए देती हैं कि—हम किसी भी स्थिति मे सम्मिलित नही रहेगी। अपना भला चाहते हो तो चुपचाप अलग हो जाओ। अन्यथा सारे शहर मे बदनामी फैलेगी। घर मे कलह की आग भडकेगी।

आवड, जावड़ और खावड़ तीनो अपनी-अपनी पत्नियो के सामने असमर्थ थे। नासमझ स्त्रियो के हठ के सामने उनकी एक नहीं चलती थी।

× × × ×

प्रात काल हुआ तो तीनो भाई फिर सोहन सेठ के पास पहुँचे और फिर अलग होने की माँग करने लगे। सेठ बडे असमजस मे पड़ गये। वह जानते थे कि जिनदास के पुण्य-प्रभाव से ही यह लोग सुख की जिन्दगी बिता रहे हैं। उससे अलग होकर भिखारी की हालत मे जा पहुँचेगे। इस कारण वे उन्हें अलग नहीं करना चाहते थे, मगर लड़कों का भविष्य उन्हें और उनकी पत्नियो को विपरीत पथ पर ले जा रहा था।

तीनो भाई पिता के समीप बैठे ही थे कि उसी समय जिनदास भी वही आ पहुंचा। वह व्याख्यान सुन कर आ रहा था। सोहन सेठ ने प्रतिदिन के अनुसार कहा—कहो बेटा, आज क्या सुन आये हो ?

जिनदास ने कहा—आज श्रीगुरु ने एक उपदेशप्रद कथा कही थी। वह इस प्रकार है—

जनपदपुर मे पिशुनजय नामक एक राजा था। वह न्यायी, नीतिनिष्ठ और गुणवान् राजा था। उसका पुत्र सुरसिंह था।



संप का अद्भुत प्रभाव



रात्रि हुई। तीनों बहुओं ने अपने-अपने पतियों से पूछा—क्या परिणाम निकला ? अलग होने की बात पक्की हो गई या नहीं ? तब उन्होंने उत्तर दिया—फूट से फजीहत होती है। मिलजुल कर रहने में ही हित है। पिताजी की भी यही सम्मति है।

यह उत्तर सुनने को तीनों में से कोई तैयार नहीं थी। अतएव उनका पारा आसमान पर चढ़ गया। उन्होंने कहा—नाथ, तुम भोले हो। जिनदास महा कपटी है और ससुरजी भी कम कपटी नहीं हैं। उनके पेट में गाँठ है। तुम उनकी मीठी-मीठी बातों में आ गये हो। बूढ़े पिताजी अब अन्न और वस्त्र के लिए भी अपने मुहताज हैं। उससे डर किस बात का ? अपनी मिहनत से चारों मौज उड़ा रहे हैं। वे कब चाहेंगे कि हम अलग हो जाएँ ! उन्हें पता है कि हमारे अलग होते ही उन्हें दाल-आटे का भाव मालूम हो जाएगा। हमें उनकी बातों में नहीं आना चाहिए।

सुरसिंह कुसंगति के चंगुल में पड़ कर सातों कुव्यसनों का सेवी बन गया। एक-एक कुव्यसन भी मनुष्य को नरकगामी बना देता है, तो जहाँ सातों मिल जाए, वहाँ कहना ही क्या है? कहा भी है'—

द्यूतञ्च मांस च सुरा च वेश्या,
पापर्धिचौर्यं परदारसेवा ।
एतानि सप्त व्यसनानि लोकान्,
घोरातिघोरे नरके नयन्ति ॥

अर्थात्—(१) जूआ खेलना (२) मांस भक्षण करना (३) मदिरापान करना (४) वेश्यागमन करना (५) शिकार खेलना (६) चोरी करना और (७) परस्त्रीगमन करना, यह सात कुव्यसन मनुष्यों को घोर अतिघोर नरक में ले जाते हैं।

दुर्व्यसनों का फल अत्यन्त दारुण होता है। इसी कारण ज्ञानी जन पुकार-पुकार कर कहते हैं.—

जूआ खेलना मांस मद, वेश्या व्यसन शिकार।
चोरी पर-रमणी रमण, सातों व्यसन निवार ॥

दुर्व्यसनों की विशेषता यह है कि इनके फन्दे में फँसा मनुष्य बड़ा ही निर्लज्ज और बेभान बन जाता है। वह अपने कुल की निर्मल कीर्त्ति को कलंकित करने में तनिक भी नहीं हिचकता। अपने पूर्वजों के यश पर स्याही पोत देने में लेश मात्र भी संकोच नहीं करता। उसे सदुपदेश सुहाता नहीं, सत्परामर्श रुचता नहीं। उस पर एक प्रकार का मतवालापन छा जाता है।

राजकुमार सुरसिंह बाल्यावस्था से ही कुसंगति में पड़ गया। कुसंगति बड़ो-बड़ो को भी मिट्टी में मिला देती है। कुसंगति के प्रभाव से समझदार भी नासमझ, विवेकवान् भी मूर्ख और धर्मी भी अधर्मी बन जाते है। फिर राजकुमार सुरसिंह तो बालक ही था। उसकी बुद्धि अपरिपक्व थी। कुसंगति ने शीघ्र ही उस पर अपना प्रभाव जमा लिया। यथार्थ ही कहा है:—

अणुप्यसता सङ्ग, सद्गुण हन्ति विस्तृतम्।
गुणो रूपान्तर याति, तक्रयोगाद्यथा पय. ॥

अणु मात्र कुसंग भी विशाल से विशाल सद्गुण को नष्ट कर डालता है। मन भर दूध थोड़े से छाछ के संसर्ग से एकदम परिवर्तित हो जाता है। उसका रूप-रस सभी कुछ बदल जाता है। और भी कहा है.—

रे जीव! सत्संगमवाप्नुहि त्वम्
असत्प्रसङ्ग त्वरया विहाय।
धन्योऽपि निन्दा लभते कुसङ्गात्,
सिन्दूरबिन्दुर्विधवाललाटे ॥

हे जीव! तू जल्दी से जल्दी असज्जनो का संसर्ग छोड कर सत्पुरुषो की संगति प्राप्त कर। असत्संगति से, जो धन्य होता है, वह भी निन्दा का पात्र बन जाता है। सिन्दूर की बिन्दी सौभाग्य का चिह्न समझी जाती है, परन्तु वही जब विधवा के भाल पर होती है तो निन्दा का पात्र बन जाती है।

असत् पुरुषों की संगति मधुर गरल के समान है। वह अनजान मे ही अपना दुष्प्रभाव दिखलाती है और धीरे-धीरे जीवन को बर्बाद कर देती है।

रखवाले ने उपाय खोज लिया। वह साहस करके चारों के पास आया और चारो मे फूट डालने के अभिप्राय से कहने लगा—राजकुमार! आज इस खेत का अहोभाग्य है। आपके चरणो से यह खेत पवित्र हो गया। आप पृथ्वीनाथ हैं तो यह खेत भी आपका ही है। प्रधानजी और पुरोहितजी भी हमारे सरदार हैं। मगर यह बनिये का लड़का चोरी करने क्यों आया है? यह किसानो से ड्योढ़ा-दुगुना वसूल करके अपनी थैलियाँ भरता है!

किसान की बात सुनकर तीनों कुमार प्रसन्न हुए। बोले—ठीक कहते हो भाई पटेल, इसको भुट्टे तोड़ने का कोई अधिकार नहीं। इसके पास तो मुफ्त का माल आता है।

किसान की युक्ति कारगर हुई। तीनों ने उसे छिटका दिया। किसान ने पहले सेठ के लड़के की पूजा उतारी, फिर मचान के एक खम्भे से बाँध दिया।

तत्पश्चात् रखवाले ने राजकुमार से कहा—आप अन्नदाता हैं। आपका दिया हम खाते हैं। प्रधानजी के कुँवर आपके साथ हैं। परन्तु पुरोहित का लड़का यहाँ क्यों आया? यह तो भीख माँग कर खाने वाला है! इसे साथ लाकर आपने अच्छा नहीं किया।

मूर्ख राजकुमार और मत्री-पुत्र यह सुनकर प्रसन्न हो गये सोचने लगे—हम दोनों पर खेत वाला खुश है तो इससे हमे क्या मतलब? वे बोले—ठीक है भाई, इसे भुट्टा तोड़ने का कोइ अधिकार नहीं।

वह अपने अपमान से क्षुब्ध नहीं होता। तिरस्कार को नीची गर्दन करके सह लेता है। वह अपनी निज की दृष्टि मे गिर जाता है। जो व्यक्ति अपने आपको स्वयं पतित समझ लेता है और अपने पतन से घृणा नहीं करता, उसका सुधार असम्भव हो जाता है। इस कारण यह सातों दुर्व्यसन अत्यन्त दारुण और घातक हैं।

राजकुमार सुरसिंह, दुर्भाग्य से, कुसंगति के प्रताप से सातों कुव्यसनो का शिकार हो गया। मंत्रीपुत्र, पुरोहितपुत्र और एक सेठ का पुत्र उसके साथी थे। यह चौकड़ी प्रायः साथ ही रहती थी।

एक दिन की बात है। चारों साथी सैर करने के लिए नगर के बाहर गये। वहाँ मक्का का एक खेत दिखाई दिया। चारो ने आपस में विचार किया और भुट्टे खाने का इरादा किया। इरादा करते ही चारो उस खेत मे घुस गये और इस प्रकार भुट्टा तोड़ने लगे, मानो घर का खेत हो!

खेत का रखवाला मेड पर मौजूद था, मगर उससे पूछने की इन्हें क्या आवश्यकता थी? रखवाले ने सोचा—मुझसे पूछ कर यह लोग भुट्टा ले लेते तो कोई बात नहीं थी। मगर मेरी मौजूदगी मे बिना पूछे खेत मे घुस जाना और नुकसान करना अनीति है। रखवाले की हैसियत से इन्हे रोकना मेरा कर्त्तव्य है। मगर यह बड़े आदमियो के लडके हैं। इन्हें अपने बड़प्पन का अभिमान है। ये कहने से मानेंगे नहीं। जबर्दस्ती रोक नहीं सकता, क्योंकि यह चार है, मैं अकेला हूं। फिर भी बुद्धिबल से इनकी अक्ल ठिकाने ला जाई सकती है।

हमारी फूट ने हमे अपमानित किया, वेइज्जत किया। यह फूट का ही फल समझना चाहिए।

जिनदास ने सोहन सेठ से कहा—गुरुदेव ने बतलाया है कि एकता से सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है।

नीतिकार कहते हैं—

अल्पानामपि वस्तूना, सहतिः कार्यसाधिका ।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥

अर्थात्—अल्प और तुच्छ वस्तुओं का भी यदि सगठन कर लिया जाय तो वह कार्य साधक हो जाता है। जब तृण मिल कर रस्सा बन जाते हैं, तो उनमें बड़े-बड़े मदोन्मत्त हाथियों को भी बाँधने की शक्ति आ जाती है।

आवड़, जावड़ और खावड़—तीनो यह कहानी सुन रहे थे। फूट के कुफल की यह कथा सुन कर वे चुप रह गये।

रात्रि मे फिर वही झकझक। उनकी स्त्रियों ने पूछा—अलग होने के विषय मे क्या निश्चय हुआ ? तब उन्होने कहा—फूट मे कुछ सार नही है। प्रेम के साथ हिल-मिल कर रहो इसी मे सब की भलाई है।

फूहड और कर्कशा स्त्रियाँ यह उत्तर सुनकर तमक उठी। कहने लगी—तुम्हे बात करना नही आता। कल प्रात काल होते ही हम अलग हो जाँएगी। देखना हमारी करामात।

यह सुनकर किसान ने पुरोहित-पुत्र को भी पकड़ा और मचान के दूसरे खम्भे से ऐसा बांध दिया कि छूट न सके।

तीसरी बारी मंत्री-पुत्र की थी। किसान ने कहा—कुंवरजी, आप प्रजा के स्वामी हैं। मेरे मालिक है। परन्तु प्रधानजी के इस लडके से मुझे क्या सरोकार है ? यह क्यो भुट्टे तोड़ रहा है ?

राजकुमार प्रसन्न होकर बोला—ठीक है भाई, तुम सच कहते हो। इसे भुट्टे नहीं तोड़ने चाहिए।

बस, किसान ने मंत्री के पुत्र को भी पकड़ा और मचान के तीसरे खम्भे से मजबूत बाँध दिया।

अब रह गया अकेला राजकुमार। किसान ने ऐंठ कर उससे कहा—राजा होकर चोरी करते आपको शर्म नहीं आती ?

और किसान ने उसे भी पकड कर मचान के चौथे खम्भे से जकड दिया।

चारों को बाँध कर किसान ने हल्ला मचाया—दौडो,-दौडो मैंने चोर पकडे हैं।,

आसपास के बहुत-से लोग इकट्ठे हो गए। भीड लग गई चारों लडकों के अभिभावको को पता लगा तो उन्होंने भी उनकी लानत-मलामत की। चारो अत्यन्त पछतावा करने लगे। सोचने लगे इन चारो ने एक दूसरे पर ईर्षा न की होती, चारों में एकता होती तो यह किसान हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता था।

चित्रशाल नगर मे जितशत्रु नामक शक्तिशाली राजा थे। इसी नगर मे धनदत्त नामक एक सेठ रहते थे। उनकी पत्नी का नाम पुष्पोत्तरा था। धनदत्त बडे पुण्यवान् थे। उनके पन्द्रह पुत्र थे और सभी बुद्धिमान्, विनयवान् तथा विचारवान् थे। सभी पुत्रों का अपने योग्य सदृश कुल मे विवाह हुआ। पन्द्रह पुत्रो की पन्द्रह वधुएँ आई। यथासमय उनकी भी सन्तान हुई। इस प्रकार धनदत्त सेठ का परिवार बहुत विशाल हो गया।

धनदत्त के घर मे बहुत धन नही था। अन्तराय कर्म के उदय से आय भी ज्यादा नही थी। इधर परिवार बडा होने से खर्च बहुत बढ़ गया था। खर्च करने मे सेठ बहुत सावधान थे, एक पाई कभी वृथा नहीं खर्चते थे, फिर भी खर्च काफी हो ही जाता था। इतना होने पर भी इस परिवार की एक बड़ी विशेषता थी। वह यह कि उस परिवार मे पारस्परिक प्रेम अपरिमित था। भाई-भाई मे, देवरानी-जिठानी में, सास-बहू मे गाढ़ी प्रीति थी। सब लोग मिल-जुल कर उद्यम करते थे और एक साथ रहने में आनन्द एव सन्तोष का अनुभव करते थे। सभी धनदत्त सेठ की आज्ञा प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते थे।

सन्ध्या समय धनदत्त सेठ अपने परिवार को एकत्र करते और पारस्परिक प्रेम, ऐक्य एवं सगठन की उपयोगिता समझाते थे। वह कहा करते-परिवार मे विभिन्न शक्तियो वाले सदस्य होते हैं। किसी में एक शक्ति होती है, किसी में दूसरी। जिसमे जो शक्ति हो, उसे उस शक्ति का अभिमान नही करना चाहिए। शक्ति से दर्प नही नम्रता आनी चाहिए। नम्रता से अनेक लाभ होते है। नम्र व्यक्ति के सामने सारा जगत् वशीभूत हो जाता है। दुर्जन भी सज्जन बन जाता है। नम्र मनुष्य सब का प्रेमपात्र बनता है। उसकी शोभा बढ़ती है।

दूसरे दिन तीनों बहुएँ मिल कर साम के पास पहुची। तीनों ने विकराल रूप धारण किया था। उनके चेहरे से ही पता लग सकता था कि आज वे पूरी तरह लडने-झगड़ने को तैयार होकर आई हैं। परन्तु उनकी सास ने उन्हे अत्यन्त मिठास के साथ बैठने के लिए कहा। वह बोली—माताजी, हम आपकी चिकनी-चुपडी बातो मे नहीं आएँगी। भला चाहती हो हमे अभी, इसी समय अलग कर दो।

साम ने उन्हे समझाने का प्रयास किया। खूब प्रेम और शान्ति के साथ समझाया। परन्तु उन पर वही असर हुआ जो चिकने घडे पर पानी छिडकने का होता है।

सास और जेठानियो की बात सुनकर सुगुणी भी वहाँ जा पहुंची। सास ने उससे पूछा—आज व्याख्यान मे क्या उपदेश सुन आई हो बेटी! हमें भी सुनाओ।

सुगुणी ने अवसर देख कर एकता बढाने के उद्देश्य से कहा—माताजी, आप धन्य हैं। आपका जीवन धन्य है। आपकी धर्मकथा सुनने की इतनी गाढी रुचि है। आज गुरुजी ने कहा था:—

सप थकी लक्ष्मी रहे, सपथी कुल शोभाय।
इह भव पर भव सुख लहे, सप सदा सुखदाय॥

संप अर्थात् एकता का फल बतलाने के लिए उन्होंने एक दृष्टान्त दिया था। वह इस प्रकार है—

रहना भी योग्य नहीं था। सेठजी सोचने लगे—यह नयी विपत्ति कहां से आ पडी ! क्या उपाय करना चाहिए? शान्त चित्त से विचार करने पर प्रत्येक समस्या का समाधान प्राप्त हो जाता है। सेठ ने सोचा—जो कार्य मजदूर कर सकते है, उसे हम स्वयं क्यो नहीं कर सकते ? हमारे भी दो हाथ है। फिर हमें पराश्रयी क्यो बनना चाहिए ?

बस, यह विचार आते ही धनदत्त ने अपने लड़को से कहा—पुत्रो ! जुट पड़ो दीवार उठाने मे। हम सब मिल कर चुटकियो मे काम पूरा कर डालेगे। दूसरो का मुह क्यो ताके ?

धनदत्त सेठ का आदेश सुनते ही उनके सब लड़के तैयार हो गए। किसी ने कुदाल सभाला, किसी ने कुशी उठाई। किसी किसी ने कुछ और किसी ने कुछ उठाया। कोई मिट्टी खोदने लगे, कोई मिट्टी उठाने लगे। नींव खोदते-खोदते, जरा गहराई आई तो कुदाल पड़ते ही खन-खन की आवाज आई। जिस लड़के ने यह आवाज सुनी थी, उसने सेठजी को बुलवाया और कहा—पिताजी ! यहा कोई चीज जान पडती है। खन्-खन् की आवाज आती है। देखिए न, कुछ चमक भी दिखाई देती है।

सेठजी ने उत्सुकता के साथ आँखे गडा कर देखा तो सचमुच ही उन्हे धातु चमकती दिखाई दी। फिर क्या था ! जो खुदाई की गई तो खजाना निकल पडा। एक कलश निकला, जिसमे स्वर्ण—मुद्राएँ भरी थी। उसके नीचे भी और कलश थे। सेठजी ने दूसरा और तीसरा कलश भी निकाल लिया। फिर देखा तो और भी द्रव्य था। पर उन्होंने सोचा—इतना ही बहुत है। अधिक लोभ विनाश का कारण होता है। कहा भी है —

पुण्य के योग से वहुत जनों का योग मिलता है। वहुत मिलकर अगर थोड़े हो जाए तो अशुभ कर्म का उदय समझना चाहिए। वहुत से कोयले मिल कर लोहे को भी पानी वना देते हैं। इसी प्रकार वहुत लोग यदि मिल-जुल कर रहते है तो दुश्मन भी पानी हो जाता है। कहा भी है —

हैं प्राण लेती सर्प के भी सप कर कीड़ी अहो,
यदि सप-युत होवे मनुज तो क्या न कर सकते कहो ?
देखो विदेशी राज्य करते एकता के भाव से,
ठोकरे खाते हो उनकी आप तो तद्‌भाव से ॥

सेठ धनदत्त के इस प्रकार के उपदेश के प्रभाव से उनके परिवार मे गम्भीर प्रेम और सुदृढ एकत्ता थी। सभी लोग एक दूसरे के सुख को देख कर प्रसन्न होते थे।

दुर्भाग्य से धनदत्त सेठ का धन समाप्त हो गया। आय भी लगभग वन्द हो गई। नौवत यहाँ तक आ पहुची कि इस वृहत्त परिवार को पेट भर खाने के लाले पड़ गये। ऐसी विषम स्थिति मे भी उनमे से कोई किसी को छोड़ना नही चाहता था। कोई वाहर जाना पसन्द नहीं करता था। सव यही सोचते थे कि सुख-दुख साथ रह कर ही भोगे गे, पर अलग न होंगे। दुःख के इस अवमर पर भी उन्हे सम्मिलन का अपूर्व सुख प्राप्त था।

एक आपत्ति अनेक आपत्तियो को साथ लेकर आती है। यहाँ भी यही हुआ। धनदत्त के वाडे की एक दीवार एक दिन गिर पडी। उनके पास इतना पैसा नहीं था कि मजदूर वुलवा कर उनसे दीवार खड़ी करवा लेते। दीवार का उसी प्रकार पडा

स्वर्गशाह मन ही मन हँस कर सोचने लगे—कौड़ी पास नहीं है और चले हैं हवेली खरीदने ! इतने बड़े मोल की हवेली यह कैसे खरीदेगा ? हमारा मन लेने के लिये यह ऐसा कह रहा जान पड़ता है।

प्रकट में स्वर्गशाह बोले—शाहजी, आप खरीदना चाहते हैं तो खरीद लीजिए। मैं खुशी से दे दूँगा।

धनदत्त—तो कीमत कह दीजिए। अभी ला दूँगा।

स्वर्गशाह ने हँसी समझ कर थोडी कीमत बतलाई। धनदत्त ने बात पकड ली। सयाने, समझदार और प्रतिष्ठित पाँच पुरुषो को साक्षी बनाकर वह द्रव्य लेने के लिए घर चले गये और द्रव्य ले आये।

स्वर्गशाह यह देख कर बुरी तरह घबरा उठे। बोले—अजी, मैंने तो हँसी हँसी मे बात कही थी। हवेली बेचने को थोड़े ही बनवाई है।

साक्षी बोले—नहीं सेठजी, अब यह न होगा। कह कर बदलना योग्य नहीं। कीमत ले लो और हवेली इनको सौंप दो।

स्वर्गशाह प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। अतएव पश्चाताप करते हुए भी उन्हे कीमत लेकर हवेली देनी पड़ी। धनदत्त को सस्ते मोल पर सुन्दर हवेली हाथ लग गई। वह अपने परिवार के साथ उसमें रहने लगे।

धनदत्त सेठ जानते थे कि ससार का यह वैभव ससार मे ही रहने वाला है। इसे कोई मनुष्य साथ नहीं ले जा सकता।

अतिलोभो न कर्त्तव्यः, अतिलोभो दुःखदायकः ।
अतिलोभप्रसादेन, बहवो मरणं गताः ॥

अर्थात्—अधिक लोभ करना योग्य नहीं, अधिक लोभ करने से अत्यन्त दुःख होता है। अत्यन्त लोभ के प्रसाद से बहुतो ने अपने प्राण गँवा दिये।

इस प्रकार विचार करके धनदत्त सेठ ने शेष खजाने को मिट्टी में दवा दिया, उन्होंने सोचा—हमारा भाग्य अनुकूल हुआ है जो यह निधि प्राप्त हो गई।

सच है—जहाँ सप है, वहाँ सुख है। पुण्यवान् जीवो को ही संप प्यारा लगता है। सप के प्रभाव से रूठी हुई लक्ष्मी भी लौट आती है।

इसी चित्रशाल नगर मे स्वर्गशाह नामक एक धनाढ्य सेठ रहते थे। उनका परिवार भी बडा था, अतएव उन्होंने रहने के लिए एक विशाल हवेली बनवाई थी। वह हवेली बाजार के बीच में थी। धनदत्त सेठ ने उस हवेली को खरीदने का विचार किया। सोचा—बनी-बनाई जगह है, आरम्भ-समारम्भ भी नहीं करना पड़ेगा। वह मेरे परिवार के लिए साताकारी भी है। सब लोग उसमें आराम से रह सकेंगे। कीमत की चिन्ता नहीं, किसी प्रकार हाथ आना चाहिए। यह सोच कर सेठ धनदत्त, स्वर्गशाह के पास पहुचे। उनसे कहा—आप बड़े आदमी हैं। आपके पास अनेक हवेलियाँ हैं। यह जो नवीन हवेली बनवाई है, वह हमें दे दीजिए। उसका उचित मूल्य मैं दे दूँगा।

अतएव कृपणता करके धन की सुरक्षा करना, दान और भोग करके उसका उपयोग न करना, योग्य नहीं है। अतएव वह उदारतापूर्वक धन खर्च करते थे। अपने परिवार को नये-नये वस्त्र, आभूषण बनाते, खाते, खिलाते और सुकृत्य में लगाते थे। उन्होंने सब को यथेष्ट खर्च करने की छूट दे रक्खी थी। इस कारण धनदत्त सेठ अपने नगर मे सर्व प्रिय हो गये थे। उनका सर्वत्र मान-सम्मान होता था। कहा है--

यस्यास्ति वित्त स नर कुलीन,
स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञ ।
स एव वक्ता स च दर्शनीय,
सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति ॥

अर्थात्—जिसके पास धन है; वह सर्वगुणसम्पन्न बन जाता है। वह कुलीन न होने पर भी कुलीन समझा जाता है, मूर्ख होने पर भी विद्वान माना जाता है, शास्त्रज्ञ समझा जाता है, उसे वक्ता और दर्शनीय पुरुष जान कर लोग उसक आदर करते हैं।

धनदत्त सेठ तो स्वय गुणवान् भी थे, अतएव उनका आदर होना स्वाभाविक ही था। उनका सारा परिवार प्रसन्न रहता और परिवार की प्रसन्नता देख कर वह भी प्रसन्न रहते थे। समस्त परिवार मे अगाढ एकता का भाव था। सब का भोजन एक ही जगह होता था।

धन न साथ आया है, न साथ जायगा। पुण्य के योग से उसकी प्राप्ति हुई है, अतएव पुण्योपार्जन मे उसका व्यय करके

भविष्य को अच्छा बना लेना ही बुद्धिमत्ता है। कई लोग लक्ष्मी का पुत्री के समान पालन-रक्षण करते है। वे उसे भूमि मे गाड देते है। वह लक्ष्मी उनके काम नही आती। कोई दूसरा ही उसका मालिक बनता है। गाडने वाला उसे गड़ी हुई छोड़ कर ही परभव में चला जाता है।

कई लोग लक्ष्मी का पत्नी के समान उपभोग करते हैं। वे यथेष्ट दान भी करते है। दान देने से लक्ष्मी परभव मे भी साथ जाती है, जैसे सती अपने पति के पीछे जाती है। हाँ, लक्ष्मी का उपयोग करते समय इस बात का विचार अवश्य करना चाहिए कि अनीति, अधर्म एव पाप मे उसका व्यय न हो।

सेठ धनदत्त इस तरह का उपदेश दिया करते थे। इससे उनका परिवार अनीति से बचा रहता था। सब दया-दान किया करते थे। उन्होंने सब प्रकार के हिंसक व्यापारों का त्याग कर दिया था। मिथ्या आडम्बर से भी वह दूर रहते थे। निरर्थक व्यय नही करते थे। सेठ धनदत्त का समस्त परिवार गहरी निष्ठा के साथ उनकी आज्ञा पालन करता था। सब एकता के सूत्र मे आबद्ध थे।

× × × ×

सुगुणी गुरुजी के मुख से सुनी हुई कथा अपनी सासू को सुनाती हुई आगे कहने लगी—उसी चित्रशाल नगर मे एक महाकजूस वणिक् रहता था। उसका नाम श्रीपाल था। उसने नाना प्रकार के असत्य कर्म करके बारह करोड का धन सचित कर लिया। वह रूखा-सूखा भोजन करता था। मोटे और फटे पुराने कपडे पहनता था। घोर कष्ट पूर्वक जीवन यापन करता

था। पैसा उसके लिए प्राणों का भी प्राण था। परमेश्वर से भी बड़ा था।

एक बार श्रीपाल ने विचार किया—मैं ने घोर से घोर कष्ट सहन करके इतना धन सचित किया है। मैं मर जाऊँगा तो कोई दूसरा इसका उपभोग करेगा। अतएव ऐसा कोई उपाय करना चाहिए कि इसे कोई और न ले सके। इस प्रकार विचार करके उसने जगल मे जाकर, एक वटवृक्ष के नीचे अपना धन गाड दिया।

थोड़े दिनो बाद श्रीपाल चल बसा। जीवन के अन्तिम क्षणों मे भी उसे परमात्मा का नाम स्मरण नहीं आया। वटवृक्ष और उसके नीचे गडा धन ही उसकी आँखो के सामने रहा। वह अकाम निर्जरा के कारण मर कर असुर रूप मे उत्पन्न हुआ। असुर होकर उसने अवधिज्ञान से अपना धन देखा और तत्काल वहा आ गया। अब वह उसी वटवृक्ष के आसपास रहता था। दुःखो को भी सुख समझ कर धन की रक्षा कर रहा था।

एक बार असुर और लक्ष्मी आकाश मे चले जा रहे थे। धनदत्त सेठ का मकान आया। तब असुर ने लक्ष्मी से कहा—इस ससार में कौन है, जो तुम्हारी (लक्ष्मी की) अभिलाषा न करता हो? कोई विरला ही होगा जो न चाहता हो। मगर तुम्हारा ढग अनोखा है। जो चाहता है उसके पास जाती नहीं और जो नहीं चाहता उसी पर तुम्हारी कृपा होती है। जो तुम्हारी उपेक्षा करता, तुम जबर्दस्ती उसके गले पड़ती हो। इस घर मे (धनदत्त के घर मे) कोई तुम्हारी परवाह नहीं करता। सब ठोकर मार-मार कर ठेलते हैं। पानी की तरह बहाते हैं। फिर

भी तुम यहाँ क्यो रहती हो ? यह घर तुम्हे क्यो प्यारा लगता है ?

लक्ष्मी बोली-इस घर मे सप है, पारस्परिक प्रेम है, एकता है, इसी कारण मैं यहाँ रहती हू।

असुर—सो कैसे ? जरा स्पष्ट करके समझाओ ।

लक्ष्मी—यह बात मैं तुम्हे आज रात्रि मे समझा दूगी।

आधी रात्रि व्यतीत हो चुकी थी । लक्ष्मी सेठ धनदत्त के पास आई । वह नारी के सुन्दर वेप मे थी । आकर उसने सेठ से प्रश्न किया—सेठजी, सोते हो या जागते ?

सेठ—मैं सोता हुआ भी जागता हूँ, पर तुम कौन हो ? किस प्रयोजन से यहाँ आई हो ? इस अर्ध रात्रि के समय कोई महिला अपना घर छोड़ कर अन्यत्र नही जाती। तुम इस समय कैसे आइ ?

लक्ष्मी—मै लक्ष्मी हूँ। तुम्हारे घर का रग-ढंग देख कर चेतावनी देने आई हूँ। देखती हू तुम्हारे यहा मेरी कोई सारसभाल नही, कोई परवाह नही । मेरे लिये बडे--बडे भूपति युद्ध मे जूझते हैं, अपने स्वजनों का और सैन्य का भोग देते है और मुझे रखने को लालायित रहते हैं। बडे-बडे सेठ-साहूकार लोग अनेक अकृत्य करते हैं, भूख-प्यास एव सर्दी-गर्मी के कष्ट सहन करते हैं, दिन को दिन और रात को रात नही गिनते। वे मुझे प्राणो के समान सभाल कर रखते हैं। कोई डिबिया में रखते हैं, कोई तिजोरी मे रखते हैं। मेरी रक्षा के लिए ताले और पहरे का प्रबन्ध करते

हैं। कोई-कोई धरती खोद कर उसमे विराजमान कर देते हैं। लोग धूप-दीप रख कर मेरी पूजा-अर्चा करते हैं और स्थिर रहने के लिए गिडगिडा कर प्रार्थना करते हैं। दीपावली के दिन, मेरे पदार्पण की आशा से, मेरे स्वागत के लिए अद्भुत साज सजाये जाते है। घरो को लीपते-पोतते हैं और रगबिरगी रोशनी करते हैं। परमात्मा से भी अधिक मेरी भक्ति करते हैं, मेरा ध्यान करते है। व्यापारीजन मेरी उपासना के लिए अपने बूढ़े माँ--बाप को और परिणीता तरुणी को तरसती छोड़कर देश-विदेश जाते है। माल का सग्रह करते हैं। पुण्य--पाप का भान भी भुला देते हैं। असख्य--अनन्त प्राणियो के घात का पाप भी अपने मत्थे चढ़ाते हैं। कुल की कीर्त्ति को कलंक लगाते हैं!

सेठ! मेरा साहचर्य प्राप्त करने के लिए कोई खेती करते हैं, कोई खाने खोदते हैं, कोई पत्र पुष्प फल बेचते है, कोई घोर पापमय शिकार तक करते हैं। अनेक लोग मेरी कृपा प्राप्त करने के लिए दूसरों के गुलाम बनते हैं, गालियाँ खाते है, अपमान सहन करते हैं, पशु की भाँति भार--वहन करते है, गाँव--गाँव भटकते फिरते हैं।

मेरे अनेक भक्त, मेरी प्रसन्नता के लिए निर्बलों की हत्या कर डालते हैं, कई सज्जनों का वध करने मे भी सकोच नहीं करते। यहाँ तक की कोई अपनी खोपड़ी को भी चीर लेते हैं। कई कृतघ्न बनते हैं। मेरी उपासना के लिए कितने ही तपस्वी तपस्या करते हैं कितने ही ज्ञानी गीत गाते है, कितने ही लोग दीनता दिखला-कर गली-गली में भीख माँगते फिरते हैं।

धनदत्त! शूरवीर योद्धा किसलिए सग्राम में अपना सिर कटवाते हैं? मेरे लिए ही तो। नट डोर पर नाचता है और

अपने प्राणों को खतरे में डालता है। वह भी मेरे लिए ही यत्न करता है।

इस प्रकार संसार में प्राणी मात्र मेरी उपासना में लगा हुआ है। कोई विरला ही होगा, जिसे मेरी अभिलाषा न हो। लोगों के करोड़ों प्रयत्न करने पर भी मैं उनके पास नहीं फटकती। परन्तु धनदत्त ! तुम्हारा अहोभाग्य है कि तुम्हारे प्रयत्न के बिना ही मैं तुम्हारे घर आकर निवास कर रही हूँ। लोग वचन से परमात्मा को बड़ा कहते, परन्तु मन से मुझे उससे भी बड़ा मानते है। मनुष्य मात्र मेरा पुजारी है मैं उनके यहाँ न जाकर तुम्हारे घर आई हूँ, परन्तु तुम मुझे ठुकरा रहे हो ! खर्च का विचार तक नही करते। मेरी रक्षा का कुछ प्रबन्ध भी नहीं करते।

सेठ, मैं तुम्हारे यहाँ रह कर पर्याप्त अपमान सहन कर चुकी हूँ। मेरा मन भर चुका है। आज तुम्हे यही सूचना देने आई हूँ कि मैं इस घर मे नहीं रहूँगी, रखना चाहोगे तो भी नही। चेतावनी देकर कोई काम करने से धोखेबाजी का दोषारोपण नही किया जा सकता। यही सोचकर मैंने तुम्हे अपना अभिप्राय बतला दिया है।

लक्ष्मीजी का यह वक्तव्य सुन कर सेठ धनदत्त बोले— अच्छी बात है देवी, प्रात काल होते ही तुम्हे जमीन मे गहरा गड्ढा खोदकर दबा दूँगा। फिर तो प्रसन्न रहोगी ?

लक्ष्मी को रोष आ गया। तमतमा कर बोली—क्यो ? मैं क्या कूड़ा-कचरा हूँ या पाषाण हूँ ?

सेठ—नही, वहाँ तुम शान्ति से रह सकोगी।

लक्ष्मी—हर्गिज नहीं, करोड़ यत्न करने पर भी मैं तुम्हारे यहाँ नहीं ठहर सकती मैं चली जाऊँगी।

सेठ—जाना ही चाहती हो तो जा सकती हो। मुझे इसकी चिन्ता नहीं। तुम सौभाग्य से आती हो और दुर्भाग्य से चली जाती हो। तुम्हारा आना-जाना स्वय तुम्हारे हाथ मे नहीं है। फिर मै भलीभाँति जानता हू कि तुम स्वभाव से ही चपला हो। तुम्हारे ऊपर भरोसा करने वाले को अन्त मे पश्चाताप ही करना पड़ता है। मैं तुम पर नहीं, भगवान् पर भरोसा रखता हूँ। हमे चाहिए क्या? अन्न और वस्त्र। सो हम सब मिलकर, सम्प रख कर किसी प्रकार प्राप्त कर ही लेंगे।

सेठ का टका-सा उत्तर सुनकर लक्ष्मी रूठ गई। सोचने लगी—मैं किसके घर जाऊँ, जहा मेरा खूब आदर-सत्कार हो?

लक्ष्मी वहाँ से चल कर सीधी राजमहल में पहुंची। वहा पहुच कर उसने देखा—यहां बहुत अन्याय और अकृत्य होते हैं। निपूतो का धन हरण करके राज-भण्डार में रख लिया जाता है। मैं यहा रहूँगी तो खोटे कर्मों मे लगूँगी। यहां रहना योग्य नहीं।

लक्ष्मी वहा से चलकर ब्राह्मण के घर पहुंची। वहां उसने देखा—यहा मृतको का धन इकट्ठा किया जाता है। ब्राह्मण अनेक जीवो के प्राण होमता है। खर्च करने में बहुत कृपण है। यहा भी मैं नहीं रह सकती।

तब लक्ष्मी वणिक् के घर गई। वहा देखा—इस घर में कपट का दौर-दौरा है। यहां नाप-तोल के बाट आदि झूठे रक्खे

जाते हैं। एक-एक कौड़ी के लिये अनर्थ किया जाता है। यहां रहना भी मेरे लिए उचित न होगा।

लक्ष्मी सोचने लगी—तो कहाँ जाऊँ ? किसान के घर जाऊँ ? परन्तु वहाँ आरम्भ समारम्भ बहुत है। उसे सब घर पापो के अड्डे दिखाई दिये। उसका मन कहीं भी आकर्षित नहीं हुआ। उसे प्रतीत हुआ कि धनदत्त सेठ के घर मे जैसी एकता है जैसा मेल-जोल है, अन्यत्र कहीं भी नही है। वह धार्मिक है, उदार हृदय है। उसकी तुलना मे दूसरा कोई परिवार नहीं टिक सकता।

यह सोचकर लक्ष्मी फिर धनदत्त के घर लौट आई। इस बार वह सेठ के पास न जाकर उनके ज्येष्ठ पुत्र के पास गई बोली—कुंवरजी, जागते हो कि सोते हो

कुंवर ने कहा—मैं सोता हुआ भी जागता हूं। पर तुम्हें मुझसे क्या प्रयोजन है ? सेठजी का कमरा आगे है।

लक्ष्मी—मैं तुम्हें सुखी करने, तुम्हारे ही पास आई हूँ। तुम ढङ्ग से रखना चाहो तो मैं रहने को तैयार हूँ। सेठजी मुझे नहीं रखना चाहते। इस कारण तुम्हें सावधान करने आई हूँ। सोच लो, ससार में समस्त सुखो का मूल लक्ष्मी है। न रखना चाहो तो आगे जाऊँ !

सेठजी के ज्येष्ठ पुत्र ने कहा—आप प्रसन्नता पूर्वक पधारिए देवीजी, जिसे मेरे पूज्य पिताजी परित्याग कर चुके हैं, उसकी अभिलाषा करना मैं पाप मानता हू।

लक्ष्मी धनदत्त सेठ के परिवार की एकता और महत्ता और अधिक समझ गई। वह इस परिवार का सप देख कर लट्टू हो गई। तथापि अधिक परीक्षा करने के लिए वह दूसरे पुत्र के पास गई। उसने भी वही सब कहा जो ज्येष्ठ पुत्र ने कहा था। उसने उत्तर दिया—मेरी निद्रा मे व्याघात न करो। मैं कुछ नही जानता। मै पिताजी के आदेश-पालन के अतिरिक्त और कुछ भी नही समझता।

लक्ष्मी ने भीतर से प्रसन्न होकर दिखावटी ढंग से कहा—तुम्हारे पिता मुझे घर से निकाल रहे है। मेरे जाने से तुम सब दुखिया हो जाओगे। दूधमुँहे बच्चे नही हो, जरा सोच देखो।

यह सुन कर वह बोला—आप पधार ही जाइए। जो मेरे पिताजी के पास नही रह सकती, वह मेरे पास भी नही रह सकती।

लक्ष्मी तीसरे पुत्र के पास गई तो उसने बातचीत करने से साफ इन्कार कर दिया। चौथे ने कहा—निकल जाओ मेरे कमरे से।

इस प्रकार लक्ष्मी ने सब लड़को और पोतों के समीप जाकर परीक्षा कर ली। वह किसी के मन मे विकार उत्पन्न न कर सकी। सेठ धनदत्त के प्रति सब के मन मे जो अखण्ड और असीम श्रद्धा थी, लक्ष्मी उसे भंग करने मे समर्थ न हो सकी। तत्पश्चात् वह सेठानी और पतोहुओं के पास पहुची। परन्तु वहाँ भी उसे निराश होना पड़ा। लक्ष्मी के प्रलोभन में पड कर कोई अपने परिवार की एकता को भग करने के लिए तैयार न थी।

अब लक्ष्मी एकान्त मे जाकर विचार करने लगी—क्या करना चाहिए ? इस घर का छूटना तो अत्यन्त ही कठिन है। अगर सेठ के सिर पर विपत्ति आ पडे तो सम्भव है, इनकी एकता भग हो जाय।

यह सोच कर लक्ष्मी फिर धनदत्त के पास पहुची। बोली-सेठजी, सोते हो या जागते ?

सेठ—जागता हूँ। तुम कौन हो ? किस लिए यहाँ आई हो ?

लक्ष्मी—मै वही जगत् की अद्वितीय मोहिनी लक्ष्मी हूँ।

सेठ—अरे, तुम तो रूस कर चली गई थीं न ? फिर कैसे आइ ?

लक्ष्मी—सेठजी, मुझे कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। यह बतलाओ कि यह धन-सम्पत्ति किसकी है ? यह हवेली किसकी है ?

सेठजी सत्यवादी थे और परमार्थ को समझते थे। अतएव उन्होने कहा—यह सब सामग्री तुम्हारे ही प्रसाद का फल है।

लक्ष्मी—तो मैं घर छोडूँ या तुम छोडो ? यहाँ की सब वस्तुएँ मेरी है। मेरा घर छोड दो और भला चाहो तो अभी—अभी बाहर निकल जाओ।

सेठजी अँगड़ाई लेकर उठ खड़े हुए। कमरे से बाहर निकले। उन्होने आवाज देकर सब को जगा दिया। सेठजी की

आवाज सुन कर सब घर वाले एकदम उठ गये। जो न उठे उन्हें दूसरों ने उठा दिया। सब मिल कर सेठ के पास पहुँचे और हाथ जोड़ कर आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे। सेठ ने कहा—सब इनके गहने उतार कर रख दो। यह सुनते ही सब ने गहने उतार कर फैंक दिये। ऐसी लापरवाही से फैंके कि टूटने-फूटने की भी चिन्ता नहीं की। ऐसा करने से किसी का मन मैला नहीं दिखाई दिया। यही नहीं, सब के चेहरे प्रसन्न थे—मानों कोई खेल खेल रहे हों। कोई कहने लगा—बहुत दिनों से यह बोझ लाद रक्खा था, अच्छा हुआ कि आज इनसे पिण्ड छूट गया। शरीर के साथ हृदय भी हल्का हो गया। चिन्ता दूर हुई। इस प्रकार सब ने अपने-अपने आभूषण उतार दिये। अब किसी के पास तीन वस्त्रों से अधिक नहीं बचे थे।

लक्ष्मी खड़ी-खड़ी यह तमाशा देख रही थी और अतीव विस्मित होकर सोच रही थी—इस परिवार के सभी नर-नारी निराले हैं। सभी धन के लिए तरसते हैं। स्वजन परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं। पैसे के लिए अपने भी पराये हो जाते हैं। माता पुत्री से, सासू बहू से, बाप बेटे से लड़ते हैं। मुकदमेबाजी होती है। कुल की कीर्त्ति को लजाते हैं। लोग शस्त्र से, अग्नि से और विष से मरते-मारते हैं। सभी लोग धन को प्राणों से अधिक चाहते हैं। मगर आश्चर्य है कि यहाँ यह बात नहीं है। सेठ का एक इशारा होते ही सब ने धन का ऐसा त्याग कर दिया मानो उसका कोई मूल्य ही नहीं है।

लक्ष्मी इस प्रकार विस्मय के सागर में गोते लगा रही थी कि उसी समय सेठ ने आदेश दिया—अच्छा, अब सब मेरे पीछे-पीछे चलो। इस घर को त्याग देना होगा।

धनदत्त चल पडे और उनके पीछे-पीछे सब परिवार भी चल पड़ा। किसी ने हवेली का द्वार बन्द करने की आवश्यकता न समझी।

सब लोग नगर की शोभा देखते जा रहे थे। उसी में सब का मन लगा था। सर्वस्व त्याग देने का किसी को विचार तक नहीं आ रहा था। वे लोग जब नगर के बाहर थोडी दूर पहुंचे तो दिवाकर का तेज दिखालाई पड़ने लगा। धूप से सुकुमार रमणियाँ और मृदुलगात्त बालक कुम्हलाने लगे। उनके चेहरे देख कर धनदत्त सेठ को गहरी चिता हुई। वह सोचने लगे—अभी-अभी पहर दिन चढ आएगा और सब भूख से घबरा उठेंगे। बड़े समझ जाएँगे, पर अबोध बालकों को क्या कह कर समझाया जायगा? उनकी भूख किस प्रकार देखी जायगा? वे खाने को माँगेगे तो कहाँ से लाऊँगा?

सेठ इस प्रकार सोचते जा रहे थे कि राह मे जल से भरा एक नाला मिला। उस नाले के आसपास अपने आप उगी मूँज खड़ी थी। उसे देखकर सेठ को सहसा सूझा—अगर मूँज तोड़ कर इसके रस्से बना लिये जाँए और रस्सो को बाजार मे बेच दिया जाय तो कुछ दाम मिल जाएँगे और उनसे आज के भोजन का काम चल जाएगा।

सेठ ने अपना विचार लडकों को बतलाया। लड़के मूंज तोड़ने मे जुट पड़े। पहले कभी ऐसा काम किया नहीं था। अतएव उनके मन में बडी भारी उमग थी। वे झटपट मूज तोड लाये और पास ही खडे एक वट वृक्ष के नीचे ढेर लगा दिया। सेठ ने रस्सा बनाने की विधि बतलाई। सब हाथो-हाथ काम में जुट पड़े। सेठ की चिन्ता दूर हो गई। उन्होने समझ लिया कि इस

प्रकार अपने पैरों पर खड़े होने वाले और स्वयं श्रम करने वाले मेरे लड़के कभी भूखे नहीं रहेंगे। वह लडको से कहने लगे—श्रम का महत्व न समझने वाले, आलसी, कायर और बड़प्पन की झूठी शान मे ऐंठने वाले मूर्ख लोग ही भूखे मरते है। मर्दानगी के साथ प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने वाले कर्मठ पुरुष कभी परावलम्बी नही होते और कभी कष्ट भी नही पाते। जीवन खेल है। एक ही प्रकार का खेल खेलते-खेलते जी ऊब जाता है। एक ही तरह का जीवन भी नीरस बन जाता है। उसमे सरसता और रमणीयता लाने के लिए कुछ विविधता चाहिए। यह भी लक्ष्मी की कृपा समझो कि उसने हमारे जीवन मे नूतनता ला दी है। पुत्रो, तुम कष्ट का अनुभव तो नहीं करते ?

सब ने एक साथ उत्तर दिया—नहीं, पिताजी, बल्कि आनन्द का अनुभव हो रहा है। ऐसा लगता है कि आज कारावास से मुक्त होकर स्वाधीनता की सांस ले रहे हैं। आज जीवन की वास्तविकता लक्षित हो रही है। लगता है, जैसे मुर्दा जीवन मे आज प्राणो का सचार हुआ है।

× × × ×

उधर लक्ष्मी, असुर से कहने लगी—देखा यह तमाशा ? ऐसी एकता आज तक मैंने दूसरे घर मे नहीं देखी। इसी कारण तो मैं इस घर की बंदिनी हो रही हूँ। कितनी सरलता से धनदत्त का इशारा होते ही, छोटे-बड़े सब, सर्वस्व छोड़कर चलते बने ? किसी के चेहरे पर एक सिकुड़न भी न आई। किसी ने जरा भी आनाकानी नही की। दूसरा घर होता तो क्या यह सभव था ? लड़के कह देते— बूढे की बुद्धि मारी गई है ! हम इसका साथ नहीं

देते। कदाचित् लाज-शर्म से प्रेरित लडके साथ देने को तैयार हो जाते तो उनकी पत्नियाँ उन्हे नौच डालतीं। कहती-इन बच्चो को भिखारी बनाने के लिए हम तैयार नही है। पर धन्य है धनदत्त सेठ का परिवार! जहाँ ऐसी प्रीति हो, एकता हो, सगठन हो, वहाँ लक्ष्मी न रहेगी तो कहाँ रहेगी? अब मुझे यह चिन्ता लग रही है कि यह मकान किसे सौंपा जाय? कोइ सुपात्र ही दिखाई नही देता।

असुर अपने आवास-वटवृक्ष पर आया। सेठ धनदत्त सयोगवश इसी वटवृक्ष के नीचे अपने परिवार के साथ बैठे थे। असुर उन्हें देखकर अति आश्चर्यान्वित हुआ। उसने सोचा—यह यहाँ आकर क्यो बैठा है? किस विचार से क्या कर रहा है? कहीं लक्ष्मी ने मेरे साथ धोखा तो नही किया है! मेरी सम्पति लूटने की कोई साजिश तो नही हो रही है? मनुष्य जाति बडी करामाती होती है! मुझे प्रकट होकर जाँच-पडताल करनी चाहिए।

तत्काल असुर ने मानव का तन धारण कर लिया। वह सेठ के पास आकर पूछने लगा—सेठजी रस्से बँटने का काम कैसे आरभ किया है? क्या विपत्ति सिर पर आ पडी?

सेठ ने उत्तर दिया—क्या करें भाई, हमे भूत जो लगा है!

सेठ के मुख से 'भूत' शब्द सुनते ही भूत थर-थर काँप उठा। डरता-डरता हाथ जोड़ कर बोला-मगर भूत ने अपराध क्या किया है?

वणिक् बड़े चतुर होते है। चेहरे से ही अन्तस्तल का

भाव पहचान लेते हैं। सेठजी ने भूत का चेहरा देखकर भाँप लिया—यह कोई भूत विदित होता है। अन्यथा इसके भयभीत होने का क्या कारण हो सकता है?

सेठ ने प्रकट में कहा—क्या करें? लक्ष्मी रूठ कर चली गई। उसने हमें दरवाजे बाहर निकाल दिया। तब हम लोग यहाँ आये हैं। इन रस्सों से भूत को बाँधेंगे और अपना काम करेंगे!

भूत ने समझ लिया कि मुझे बाँध कर मेरा खजाना ले लेने की तैयारी हो रही है। अतएव वह बोला—स्वामिन्! मुझे बाँधने से क्या लाभ होगा? मेरी कमाई हुई बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ इस वट के नीचे गड़ी हैं। आप प्रसन्नता पूर्वक उन्हे स्वीकार कीजिए।

सेठ ने कहा—रहने की ठौर नहीं, स्वर्ण मुद्राएँ लेकर रक्खेंगे कहाँ? लक्ष्मी आकर यहाँ भी वही करेगी तो घर छोड़कर कहाँ जाएँगे?

भूत—अच्छी बात है, मैं लक्ष्मी को मना लाता हूँ।

सेठ—जैसी तुम्हारी इच्छा। मझे कोई चाहता नहा है।

असुर उसी समय लक्ष्मी के पास पहुचा। घबरा कर कहने लगा—उन्हें मेरे पीछे क्यों लगा दिया तुमने! उनका मैंने क्या बिगाड़ा है? सब के सब मेरे आवास पर जाकर डटे हैं। या तो तुम चल कर उन्हें मना लाओ, अन्यथा इन्द्र महाराज के पास जाकर मैं फरियाद करता हू। क्यों किसी धर्मात्मा और

एकता के उपासक भले आदमी को सता रही हो ?

लक्ष्मी ने मुस्किरा कर कहा—पहले पहल किसने मुझे छेड़ा था ? जो दूसरों के लिए गड्ढा खोदता है, वह आप कुए मे पड़ता है।

लक्ष्मी ने आगे कहा—मैं ने इस परिवार के सप की परीक्षा के लिए यह सब करामात की थी। चलो, हम तुम दोनो चले और उन्हे मना लावें।

लक्ष्मी और असुर दोनों धनदत्त के पास पहुँचे। लक्ष्मी ने उनसे कहा—आप अपने घर वापस लौट चलो। मेरा अपराध क्षमा करो। आगे कभी ऐसा नहीं करूँगी।

असुर ने कहा—इस धन के कारण मैं भी इस वट से बंधा रहता हूं। इसे आप अपने साथ ले जाइए। यह हमारे किस काम का ?

सेठ—इसमे बोझ बहुत है !

असुर ने अपनी चिरसंचित निधि सपने सिर पर उठाई और वह सेठजी के पीछे हो गया। सेठ धनदत्त परिवार के साथ वापिस लौटे। बाजार के बीच होकर निकले। देव और देवी ने उनका जय-जयकार किया। यह दृश्य देख कर नगर निवासी चकित रह गए।

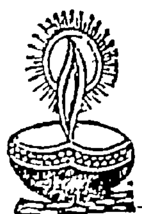
धनदत्त अपने घर आये। बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। बात क्या है, यह जानने के लिए सब उत्कंठित थे। सेठ धनदत्त ने रात मे बीती सारी कहानी कह सुनाई। उसे सुन कर सब

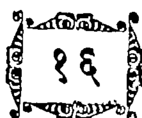
बहुत प्रभावित हुए और सब ने सप की महिमा समझी । इस घटना से धनदत्त की कीर्ति सर्वत्र फैल गई। सब लोग उनका खूब आदर करने लगे।

एक समय धनदत्त सेठ सद्‌गुरु का उपदेश सुनकर दीक्षित हो गये। साधु का संयम पाल कर, आयु पूर्ण होने पर स्वर्ग सिधारे। वहाँ से चय कर वे अक्षय कल्याण के भागी होंगे।"

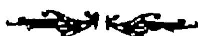
सुगुणी देवी के मुख से यह दृष्टान्त सुनकर सासू और जेठानियों को अत्यन्त हर्ष हुआ। जेठानियाँ कहने लगी— वास्तव में सप में ही सुख है। हम भी आपस में संप से रहेंगी।

जब लग पोते पुण्य है, तब लग सपत जाण ।
सपत से लक्ष्मी रहे, शंका दिल मत आण ।।





क्षमा और उदारता



जिनदास और सुगुणी—दोनो सुदृढ सम्यक्त्वी थे। उनमें सम्यक्त्व के पाँचों लक्षण—शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य—परिपूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। उनका प्रत्येक कदम विवेक रूपी दिव्य दीपक के प्रकाश में ही पड़ता था। वे बड़े गम्भीर और शान्त थे। उन्होंने अपने परिवार मे संप रखने का प्रत्येक सम्भव उपाय किया। कुछ दिनों तक उन उपायो का प्रभाव हुआ, किन्तु स्थायी प्रभाव न हो सका। जिनदास के तीनो बड़े भाई पाप-कर्मोदय से प्रभावित थे। पापकर्म की प्रबलता उन्हे उल्टी राह पर ले जा रही थी। इसी कारण उनकी मति विपरीत हो रही थी। अतएव जिनदास और उसके पिता के एकता के लिए किये जाने वाले प्रयास सफल नहीं हो रहे थे।

जिसको जैसी भवितव्यता होती है, उसे वैसे ही सहायक मिल जाते हैं। इसके अनुसार जिनदास के भाइयों को वैसी पत्नियाँ मिली थीं, जो उन्हें विपत्ति की ओर खींच कर लिये जा रही थीं।

कस्तूरी की सुगंध गाँठ में बाँधने से रुक नहीं सकती। इसी प्रकार जिनदास और सुगुणी के सद्गुणों का सौरभ घर की

चहारदीवारी से अवरुद्ध नहीं हो सकता था। वह सभी सीमाओं को अतिक्रमण करके दूर-दूर तक फैलता जाता था। और यही कारण था कि जिनदास के भाइयो एव भौजाइयो के हृदय मे घोर ईर्षा उत्पन्न हो गई। जिनदास की कीर्त्ति सुन कर बड़े भाई तिलमिला उठते थे। सुगुणी की गुणावली उसकी जेठानियों को कानो मे बाण की तरह चुभती थी।

विवेकशील व्यक्ति किसी की प्रशसा सुनता है तो जिन सद्गुणो के कारण प्रशसा हुई है, उन्हे स्वय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मगर दुर्जनो का पथ निराला है। वे उन सद्गुणों को अपना भी नहीं सकते और दूसरे की प्रशसा सुन कर सहन भी नहीं कर सकते। ऐसे पामर लोग अपना भी अहित करते हैं और दूसरो के मार्ग में भी कंटक बोते है।

सुगुणी और जिनदास का यश परिवृद्ध होता जाता था और इन लोगों की ईर्षा भी उसी परिमाण में बढ़ती चली जाती थी। एक दिन छहो प्राणियों ने सम्मिलित होकर विचार किया— कोई ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे इन दोनो को नीचा देखना पडे, इनका अपमान हो।

स्त्रियाँ हस कर कहने लगीं—रहने भी दो, बेकार बाते बनाते हो। तुम से क्या होना-जाना है। अवसर आने पर हमारी करामात देखना। हम मजा चखाएँगी।

उन्ही दिनो राजा अरिजय का पुत्र राजकुमार रिपुजय असातावेदनीय कर्म के उदय से बीमार हो गया। राजा ने अनेक उपचार किये। बडे-बडे कुशल वैद्यों को आमंत्रित किया। पानी के समान पैसा बहाया। किन्तु राजकुमार को कुछ भी लाभ नहीं हुआ।

है। अपने यहाँ अग्रणी का उत्सव था। मैं ने जेठानी से मैदा पिसवाया और उसे लेकर भागी।' प्राणनाथ! यह कैसा स्वप्न है?

जिनदास बोले—प्रिये! होगा कुछ जंजाल। इसके लिए सिरपच्ची करना वृथा है। आज नगर के बाहर चलना है। समय न गंवाओ। जल्दी सामयिक-प्रतिक्रमण करके तैयार हो जाओ।

सूर्योदय हुआ। आज नगर में बड़ी धूमधाम थी। सब लोग भोजन-सामग्री ले-लेकर अपने-अपने परिवार के साथ बाहर जा रहे थे। कोई जा चुके थे और कोई रास्ते में जा रहे थे। बहुत-से अपनी भोजन-व्यवस्था ठीक करके क्रीड़ा करने में मग्न हो गये थे।

सोहन शाह भी अपने पुत्रों और पुत्रवधुओं के साथ बाहर आ पहुँचे। एक जीव-जन्तुविहीन जगह देख कर उन्होंने अपनी गाड़ी खड़ी करवाई। सुगुणा तत्काल गाड़ी से नीचे उतरी और पूँजणी लेकर उस स्थान को साफ करने लगी। उसने भोजन बनाने का स्थान भी पूँज लिया। फिर पानी छान कर रख दिया। आटा-दाल आदि भोजन-सामग्री भलीभांति देख ली। ईंधन को भी पूंज कर यथास्थान जमा दिया। इस प्रकार श्रावकधर्म के अनुसार सब व्यवस्था ठीक कर दी।

इसके पश्चात् जेठानियाँ काम में लग गई। सुगुणी ने फुर्सत देख-कर सोचा—अब बैठी-बैठी क्या कमाई कर लूंगी? एक सामायिक कर लूँ। यह सोच कर वह एकान्त मे चली गई। एक वृक्ष के नीचे जाकर वह सामायिक करने लगी। धार्मिकजन अपने समय को वृथा नहीं गँवाते। अवसर मिलते ही वह धर्मक्रिया करने लगते हैं।

जब सभी नगर-निवासी नगर से बाहर चले गये तो उस नगर मे विराजमान धर्मजय ऋषि ने अपने शिष्यों से कहा— आज नगर में आहार-पानी का योग नहीं है। हम लोग भी बाहर चलें और वहीं धर्मोपदेश करें तो क्या हानि है ? वहीं भिक्षा लेकर वापिस लौट जाएंगे।

गुरुजी के विचार का सभी शिष्यों ने अनुमोदन किया। सब सन्त नगर के बाहर पहुंचे और एक उद्यान मे, यक्ष के मन्दिर में जाकर ठहर गए। धर्म-प्रेमी जनों को मुनिदर्शन करके अपूर्व हर्ष हुआ। जिनदास आदि अनेक धर्मनिष्ठ लोग आकर और सामायिक लेकर बैठ गए। परोपकार परायण अनगार ने धर्म का उपदेश आरम्भ किया —

अनित्यानि शरीराणि, वैभवो नैव शाश्वत ।
नित्यं समाहितो मृत्यु., कर्त्तव्यो धर्मसग्रह. ॥

अर्थात्—हे भद्र मानवो ! किसी का शरीर सदा एक सरीखा नहीं रह सकता। प्रत्यक्ष देखा जा रहा है कि क्षण-क्षण मे इसकी अवस्थाएँ बदलती जा रही हैं। यह शरीर बालक से युवक और युवक से वृद्ध हो गया। बचपन की स्फूर्ति और यौवन की शक्ति अब वृद्धावस्था मे कहाँ है ? अंग-अग ढीले पड़ गये है, इन्द्रियाँ शिथिल हो गई है और सारा ही शरीर मानो भारभूत हो गया है। प्रभु ने यथार्थ ही कहा है.—

दुमपत्तए पंडुरए जहा, निवडई राईगणाण अच्चए
एव मणुयाण जीविय, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

बडबडाने लगी—मालकिन बन कर सामायिक कर रही है और देवर मालिक बन कर धर्मोपदेश सुन रहे है! और हम छहों दास-दासियो की तरह पच रहे है। जाने भी दो, हमको ही क्या गरज है? भाड़ मे जाय यह भोजन! हम से यह गुलामी नहीं सही जाती।

इस प्रकार बडबड़ाती हुई तीनो उठ खडी हुई। सेठ और तीनो भाइयो ने उनकी बड़बड़ाहट सुनी तो आश्चर्य करने लगे। सोचने लगे—अचानक ही ऐसी क्या घटना घट गई? क्यो यह हल्ला हो रहा है?

उन्होने इन क्रुद्ध महिलाओं के पास आकर कहा—थोड़ी देर शान्ति रखो यह घर नही है। लोक-लाज का तो खयाल करो। कोई सुनेगा तो क्या कहेगा? लोग उपहास करेंगे।

बड़ी जेठानी ने तमक कर कहा—क्यों, क्या लोक-लाज हमारे लिए ही है? वे सेठ-सेठानी बन कर धर्मध्यान करें और हम उनके नौकर बन कर काम करें? हमे क्या मोल देकर खरीदा है? ऐसा नहीं होगा। हम भी काम नहीं करेंगी। खाने को सब, करने को हम?

इस प्रकार कह कर तीनो एक ओर जाकर बैठ गई। तीनो भाई चुपचाप जाकर रसोई बनाने बैठ गए।

एकान्त मे बैठ कर तीनो सोचने लगीं—ऐसी कोई तद-बीर सोचनी चाहिए, जिससे देवरानी को क्रोध आवे! उसके क्रुद्ध हुए बिना हमे सफलता नहीं मिल सकती। लडने का कुछ मजा ही नही आता!

यह सोच कर तीनों सुगुणी के पास पहुँची। एक ने कहा- बाई, तू तो नित्य-नियम में ऐसी मगन हो रही है कि बात भी नहीं करती।

सुगुणी ने मधुर स्वर से कहा—जरा माला फेर लूँ, फिर बात करूँगी। तब तक आप तीनों आपस में ही बातें कीजिए।

सुगुणी माला फेर चुकी तो बड़ी जेठानी ने कहा—बात करें किन्तु बात करने से कलह तो नहीं हो जायगा ?

सुगुणी—यतनापूर्वक सुख से बातचीत कीजिए। बातचीत में कलह का तो कोई कारण दिखाई नहीं देता।

सुगुणी उनके साथ बातचीत करने को तैयार हो गई। तब बड़ी जेठानी ने कहा—देवरानीजी, आज मुझे विचित्र स्वप्न आया—"हम चारों जनी अलग-अलग हो गई हैं। धन-संपत्ति का बराबर-बराबर बँटवारा हो गया है। मगर देवर को कमाना नहीं आता था। अतएव उन्होंने सब सम्पत्ति समाप्त कर दी और वे भिखारी हो गए। थोड़े दिनों बाद मेरे घर में विवाह-समारम्भ हुआ। आमन्त्रण पाकर सब स्वजन सम्मिलित हुए, पर देवर और देवरानी बिना बुलाये ही आ धमके। उन्हें गरीब समझ कर मैंने मिट्टी के पात्र में बचा-खुचा अन्न डाल दिया और जिमा दिया।"

अपने मनगढ़न्त स्वप्न का वृत्तान्त सुनाकर बड़ी जेठानी सुगुणी के चेहरे की ओर देखने लगी। वह जाँच कर रही थी कि सुगुणी को क्रोध आता है या नहीं ! पर उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई। सुगुणी शान्त थी।

तब दूसरी जेठानी ने कहा—"अच्छा, अब मेरी बीती सुनो। रात्रि के समय ऐसा ही स्वप्न मुझे भी आया। अन्तर यह है कि मैंने देवरजी को बचा भात मिट्टी के ठीकरे मे डाल दिया। उसे लेकर वे देवरानी के साथ ही खाने लगे। निर्लज्ज को लज्जा भी नही आई।"

इतने पर भी सुगुणी को क्रोध न आया।

तीसरी ने सोचा—यह सुगुणी बडी पक्की है। जान पडता है, पत्थर से बनी है। इतने कठोर शब्दो का भी इस पर कुछ असर नहीं होता। इतना अपमान देख कर तो मुर्दे को भी क्रोध आ जाता। यह मुर्दे से भी बाजी मार रही है अच्छा, देखती हूँ, इसे कैसे गुस्सा नहीं आता।

इस प्रकार सोच कर तीसरी जेठानी कहने लगी मुझे भी तो आज इसी प्रकार का स्वप्न आया है। मैंने स्वप्न मे देखा—'देवर और देवरानी फटे-टूटे, मैले-कुचैले कपड़ो से किसी तरह अपने शरीर की लज्जा बचाते मेरे द्वार पर आए। मैंने इन्हें अभागा और दरिद्री समझ कर फटकार कर भगा दिया। इतने मे ही घर की जूठन मैंने उकरड़े पर डाली। उसे देख यह दोनो प्राणी कौवा-कौवी की तरह उस पर झपट पडे। उस जूठन मे से अन्न के दाने चुग--चुग कर खाने लगे। बाई, आज मैंने ऐसा स्वप्न देखा कि मैं स्वय चकित रह गई।"

तीनो टकटकी लगा कर सुगुणी की ओर देखने लगी। वह चाहती थी किसी तरह सुगुणी को क्रोध आ जाय तो लड़ने-झगडने का रास्ता निकले। परन्तु उन्हे घोर निराशा हुई। सुगुणी ने अपनी सागर की सी गभीरता और अपूर्व क्षमाशीलता

से जेठानियों को अनायास ही पराजित कर दिया। वह मन ही मन कुढ़ने लगी, पर करे तो क्या करें ?

आखिर बड़ी जेठानी ने एक बार फिर प्रयत्न किया। वह बोली—देवरानी, तुम तो मौन हो रही हो। रात्रि को तुम्हे कोई स्वप्न आया हो तो तुम भी कह सुनाओ।

भद्रहृदया सुगुणी असमंजस में पड़ गई। उसने विचार किया—"स्वप्न तो मुझे अवश्य आया है, परन्तु सुनाऊँगी तो निश्चय ही कलह होगा। ना कहूँ तो असत्य भाषण का दोष लगेगा।" यह सोच कर वह मौन धारण करके रह गई।

तब तीनों जेठानियाँ कहने लगीं—हम भोली हैं, अतएव हमने अपना-अपना स्वप्न कह सुनाया। तू बड़ी कपटिन है। मन की बात बताती नहीं है! धर्म करके कपट ही सीखा है क्या ?

सुगुणी—आप मुझे क्षमा कीजिए। स्वप्न की बात प्रकट करने से निश्चय ही कलह की आग भड़क उठेगी।

एक जेठानी—तुझे सौगंध है, अपना स्वप्न बतला दे।

दूसरी जेठानी—मैं तुम्हें तुम्हारे पति की कसम दिलाती हूँ, स्वप्न अवश्य बताना पड़ेगा।

सच है, ऐसी ही कलहशील स्त्रियों ने समस्त नारी वर्ग को कलंकित किया है। ऐसी ही क्लेशकारिणी रमणियों के कारण कवि को उच्चारण करना पड़ा—

स्त्रियो हि निन्द्यता लोके, स्त्रिय' प्रीतिविनाशिका ।
पापबीज कलेर्मूल, धर्मस्य नाशिका स्त्रिय ॥

अर्थात्—जगत् मे वह स्त्रियॉ निन्दनीय हैं जो पारिवारिक प्रीति का विनाश करती हैं, जो मानों पापों का बीज हैं, कलह का मूल हैं और धर्म का नाश करने वाली है।

सुगुणी देवी की जेठानियॉ ऐसी ही स्त्रियो में थी। कलह किये बिना उन्हे चैन नहीं थी। उन्होने सुगुणी को पति की शपथ दिला कर स्वप्न की बात कहने को बाध्य कर दिया। वह विवश होकर अनमने भाव से बोली—बहिनजी! क्षमा रखना। मैं स्वप्न की बात कहती हूं और वह भी तुम्हारे शपथ दिलाने पर। मैंने आज रात्रि के अन्तिम प्रहर मे स्वप्न देखा—हम दोनो गृह त्याग कर परदेश चले गए है। धर्म के प्रसाद से परदेश मे भी हमें संसार के सभी सुख प्राप्त हुए हैं। विशाल हवेली मे रहते हैं एक बार अगरणी-उत्सव मनाया जा रहा था। जब प्रिय जनो को निमत्रण करके जिमाना था। उसके लिये मैंदा की आवश्यकता हुई। मैंदा पिसाने के लिए एक बाई की तलाश थी। इतने में तुम दिखाई पड़ी। तुम भूख की मारी अशक्त हो गई थी। तुम्हे मैंदा पीसने के लिए घर मे बिठाया। परन्तु भूख और अशक्ति के कारण तुमने चक्की ठीक नही चलाई। मुझे अचानक क्रोध चढ आया और मै ने तुम्हे अनजान मे एक ठोकर लगा दी। तुमने गिड़गिड़ा कर कहा—भूखी हूँ इस कारण चक्की नही चलती। यह सुन कर मुझे दया आ गई। मैं ने तुम्हे पकवान मंगा कर भरपेट भोजन कराया।'

इसके बाद सुगुणी ने कहा—बहिनजी, बुरा न मानना।

में आपका अपमान नहीं करना चाहती। जैसा स्वप्न देखा था, वैसा आपके आग्रह से कह सुनाया है।

सुगुणी का इतना कहना था कि तीनों ने कंकाली का रूप धारण कर लिया। वह क्रोध में आकर अंटसंट बकने लगीं। भूतनी की तरह बिफर गई। चिल्ला-चिल्ला कर रोने का ढोंग करने लगीं। कहने लगीं—धनवान् की बिटिया होने के कारण इतना अकड़ती है। इतना घमण्ड करती है! बड़ी आई है हमें ठोकर मारने वाली कहीं की! घर में जैसे तू ही सब कुछ है! हम कुछ भी नहीं!

सुगुणी ने हाथ जोड कर कहा—क्षमा करो बहिनजी, आपने ही तो सौगंद धराई थी! आपके आग्रह करने पर ही तो मैं ने अपना स्वप्न सुनाया है। अब कलह करना योग्य नहीं है।

तीनों बोलीं—बस, चुप रह। तू बाप के धन का घमण्ड करती है और हमें तुच्छ समझती है। धर्मात्मा कहला कर ढोंग करती है। तू ने सासु और ससुर को भी भरमा दिया है। याद रखना जो तेरा अहंकार चूर-चूर न कर दिया तो!

इस प्रकार देवरानी-जिठानी की लडाई सुन कर बहुतेरे तमाशबीन इकट्ठे हो गए। यह हाल देख कर मोहन सेठ और तीनों लडके भी दौड़े-दौड़े आए। सुगुणी यह दृश्य देख कर अतीव लज्जित हुई। वह सुसंस्कारिणी, कुलीन और शिक्षिता नारी थी। सब के सामने इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होना उसके लिए असह्य था। मगर वह करती क्या? जेठानियाँ किसी न किसी उपाय से लडने पर आमादा थीं। वह लज्जित होकर वृक्ष के पीछे छिप कर बैठ गई।

श्वसुर और अपने-अपने पति को देख कर तीनो कंकालियाँ आग की तरह भड़क उठी। वह मुख से आग की ज्वालाएँ वमन करने लगीं। श्वसुर ने समझाया, पतियों ने समझाया, परन्तु वह समझना ही कब चाहती थीं ? कहने लगीं—ठोकर मारने वालो के साथ हम हर्गिज नहीं रह सकती—एक दिन भी नहीं।

इसी समय जिनदास आ पहुंचे। औरतों की लड़ाई देख कर वह भी बहुत लज्जित हुए। अपनी पत्नी का दोष देख कर उन्होंने उसे खूब फटकार बतलाई। बेचारी निरपराध सुगुणी सर्वथा मौन रही।

सोहन सेठ परेशान थे। उन्होंने कहा—साथ नहीं निभ सकतीं तो न सही। घर चल कर सब की पांती कर देंगे। सब अलग-अलग रहना। इस प्रकार समझा-बुझा कर उन्होंने किसी प्रकार शान्ति स्थापित की।

इस स्थिति में भोजन किसे भाता ? वह विष के समान हो गया। नाम मात्र को सब ने थोड़ा-थोडा खाया और बचा हुआ कुत्तों को दान कर दिया गया।

घर आते ही तीनो भाई अलग होने के लिए तुल गये। वे द्वार रोक कर बैठ गये और जब सोहन साहू ने अलग कर देने की शपथ खाई, तब उन्हें घर मे घुसने दिया। घर में प्रवेश करके सोहन साहू निधान-गृह में गये। धरती मे गड़ा धन बाहर निकाला और उसके चार हिस्से कर दिये। अपने लिए थोडी-सी सम्पत्ति अलग रख ली। यह देख कर तीनो पुत्र और तीनो पतोहू अत्यन्त हर्षित हुए। उनकी चिर-कामना सफल

अपने साथ न होगी। हम परदेश मे रह कर शान्ति के साथ जीवन यापन कर लेंगे। क्लेश का अन्त आ जाएगा। तीनो भाई माता-पिता की सेवा कर लेंगे। बोलो, तैयार हो ?

सुगुणी—जहाँ काया वहाँ छाया। पत्नी, पति की अनुगामिनी है। जहाँ आप वहाँ मैं। सब के चित्त की शान्ति का यही उत्तम उपाय है।



वाले तो गली-गली मे भटकते फिरते है, किन्तु ऐसे सच्चे धर्मात्मा क्वचित् ही दृष्टिगोचर होते हैं।

जिनदास ने सुगुणी से कहा—प्रिये ! हमारी कसौटी का काल यही है। धैर्य पूर्वक सब कुछ सहन करना होगा। अगर हमारे हृदय मे किसी भी प्राणी के प्रति वैरभाव नही है, हमारे अन्तस्तल से अपने विरोधियों के प्रति भी करुणा और प्रेम की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित होती है, हम अपना अनिष्ट चाहने वालो के प्रति भी अनुकम्पाशील है, अगर हमे कर्मसिद्धान्त पर अगाढ श्रद्धा है, तो हम भयभीत नही होगे, दु खी नही होंगे। तुम धैर्य रख कर और नमस्कार मंत्र का जाप करके मेरे साथ चलो। अगर हमारे पुण्य का उदय है तो हमारे लिए आकाश से रत्न वरस पडेगे। पुण्य क्षीण हो गया होगा तो घर मे रहते भी कष्ट उठाना पडेगा।

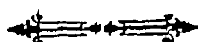
सुगुणी ने कहा—नाथ ! इतने दिनो तक जिनदेव द्वारा कथित धर्म का श्रवण-आराधन किया है। उस धर्म के तत्व मेरी नस-नस मे व्याप्त है। आप चिन्ता न करें। अपने परिवार को सुखी बनाने के लिए मैं महान् त्याग कर सकती हूँ।

जिनदास—तो बस, इस परिवार के समस्त आभूषण उतार कर रख दो, जो सम्पत्ति तुम्हारे पास हो खोल कर छोड दो। शरीर पर वस्त्रो के अतिरिक्त हमारे पास और कुछ नही रहना चाहिये।

यही किया गया। दोनों के पास तीन-तीन वस्त्र रह गए। अब चलने की तैयारी थी। जिनदास ने कहा मुख्य द्वार से निकल जाना सम्भव नहीं वहाँ माता-पिता शयन कर रहे



गृहत्याग



आधी रात होने में कुछ विलम्ब था। सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था। सब लोग अपने-अपने घरों के द्वार बंद करके गाढ निद्रा का आनन्द ले रहे थे। निस्तब्ध और नीरव प्रकृति मे कहीं हल चल दिखाई नहीं देती थी। कभी-कभी श्वान-ध्वनि ही नीरवता को भंग कर देती थी। चारो ओर असीम तिमिरराशि व्याप्त थी। ऐसा जान पडता था कि दिवाकर के अस्त होने पर सद्यः वैधव्य से पीड़ित प्रकृति ने सिर से पॉव तक काली चादर ओढ़ कर किसी मरुस्थलीय विधवा का अनुकरण किया है।

ऐसे भयानक समय में एक धर्मनिष्ट दम्पती अपने ऊपर ईर्षा और द्वेष रखने वाले परिवार के सुख के लिए, उसकी चित्तशान्ति के लिए, सर्वस्व के साथ-साथ गृह त्याग करने की आयोजना कर रहा था। यह दम्पती और कोई नहीं, हमारे परिचित जिनदास और देवी सुगुणी का युगल था।

वास्तव मे धर्मात्मा व्यक्ति वही है जो दूसरे के सुख के लिए सहर्ष भारी से भारी दुःख उठाने में पश्चात्पद नहीं होता। माला घुमाने वाले और तिलक से अपने भाल की शोभा बढाने

ऐसा हुआ तो क्लेश मे वृद्धि होगी। भाइयो और भौजाइयो के मन मे फिर अशान्ति उत्पन्न हो जाएगी। मगर इस भय के कारण उन्हे थकावट नहीं अनुभव हुई और वे काफी दूर निकल गए।

अब रात्रि का अवसान समीप आ गया। अरुणोदय हो गया। कई कोस मार्ग लाघ लिया गया। तब जिनदास ने कहा—प्रिये! जीवन की यह मधुरतर रजनी चिरस्मृत रहेगी। थक गई होओगी। जरा विश्राम कर ले और इस वृक्ष के नीचे बैठ कर नित्य-नियम भी कर ले।

दोनो वृक्ष की छाया में बैठ गये। थोड़ी देर विश्रान्ति लेकर दोनों ने सामायिक की, रात्रिक प्रतिक्रमण किया और यथेष्ट प्रत्याख्यान किया फिर सोचा—यहाँ अपना कोई सगा-सबंधी नहीं है। जो प्रेम से भोजन करा दे। पास मे फूटी कौड़ी भी नहीं हैं, कि कही से कुछ खरीद कर खाया जाय। अतएव आज उपवास होता दीखता है! फिर क्यो न चतुर्थभक्त का प्रत्याख्यान कर लिया जाय? दोनो ने उपवास ग्रहण कर लिया। वह जानते थे कि अशुभ कर्मो को भस्म करने का तपस्या से अधिक कारगर अन्य साधन नहीं है।

इसके पश्चात् दोनो धार्मिक आगे चले। कोस दो कोस चलकर विश्राम ले लेते और फिर आगे चल पड़ते थे। इस तरह दिन भर चलते-चलते वे एक खेड़े मे पहुचे। उस समय सध्या हो चुकी थी। सायंकालीन धर्मक्रिया करके रात्रि मे वही विश्राम किया। प्रथम तो कभी पैदल इतने चले नही थे फिर दिन भर के भूखे थे। अतएव दोनो बुरी तरह थक गये

हैं। वे अपने को कदापि नहीं जाने देंगे। अतः उसने अपने कमरे की खिड़की से एक रस्सा बाँध कर लटकाया और दोनों उसके सहारे नीचे उतर गए।

दोनों सड़क पर आ पहुचे। पैत्रिक गृह का त्याग करने और माता-पिता को छोड़ कर जाने मे उन्हे प्रसन्नता नहीं थी, मगर कर्तव्य की प्रेरणा उन्हे आगे बढ़ा रही थी। वे पहरेदारों की निगाह से बचने के लिए गली-कूचो मे होकर चले और जैसे-तैसे नगर के बाहर जा पहुंचे।

उनके सामने न कोई निर्दिष्ट लक्ष्य था, न नियत पथ था। वह स्वयं नहीं जानते थे कि उन्हे किस मार्ग से कहाँ जाना है? इससे सरलतर यह हुई कि उन्हे रात्रि के अधकार मे रास्ता नहीं खोजना पड़ा। वे इस झंझट से सहज ही बच गए। जो भी रास्ता उनके सामने आया, उसी पर चल पड़े और चलते ही चले गए।

घोर अंधेरी रात थी। काँटा, कंकर, पत्थर, झाड, झंखाड़ कुछ भी नहीं सूझ पड़ता था। कभी जिनदास और कभी सुगुणी पत्थर से टकरा जाते, कभी पैरों में काँटे चुभ जाते, कभी पाँव गड्हे में गिर जाता, और कभी गिर पडते थे। रास्ते मे अनेक वन्य पशु पास मे आये, पर नमस्कार मन्त्र का अमोघ कवच उनके पास था। उसका प्रयोग करने से न कोई उपद्रव हुआ और न उनका हृदय भयभीत हुआ।

हाँ उनके मन में एक भय अवश्य था। वह यह कि हमारे गृहत्याग का समाचार किसी को मिल न गया हो और कोई पकड कर वापिस ले जाने के लिए पीछा न कर रहा हो!

गाँव वहाँ से थोडी ही दूर था। फिर भी वहाँ पहुँचना कठिन दिखाई देता था। आखिर हिम्मत करके, किसी प्रकार धीरे-धीरे चलकर दोनो ग्राम तक आये। उस ग्राम का नाम प्रयाग था। वहाँ पहुँच कर जिनदास ने ठहरने के लिए स्थान के विषय मे पूछा। ग्रामवासियो ने कहा—मीठी मांजी के घर जाकर विश्राम लीजिए। वे पूछताछ करते मीठी मांजी के द्वार पर जा पहुचे। जिनदास ने कहा—माजी, रात भर ठहरने दोगी ?

मांजी इस युगल को देख कर प्रसन्न हुई। बोली—बेटा, स्वागत। मेरा अहोभाग्य है कि तुम मेरे द्वार पर आए। यह सब तुम्हारी ही जगह है। सुखपूर्वक विश्राम करो। धर्म ही साथ जाएगा, और कोई साथ जाने वाला नही।

जिनदास और सुगुणी बाहर चबूतरे पर बैठ गए। थोडी देर सुस्ता कर वे अन्दर गए। सुख मे पली सुगुणी के पेट मे तीन दिन से अन्न का एक भी दाना नहीं पडा था। ऊपर से लगातार तीन दिन से वह पैदल चल रही थी। अतएव इस समय उसकी हालत अत्यन्त दयनीय हो रही थी। थकावट और भूख के कारण वह कुम्हला गई थी। भीतर जाते ही लेट गई। बैठने की उसमे शक्ति नही रही थी। लेटने पर आँख लग गई।

प्रतिक्रमण का समय हो गया और सुगुणी सो रही थी। जिनदास सोचने लगे—जगाना चाहिए या नहीं ? बेचारी करोड-पति की बेटी है। नगर सेठ के लाड़ प्यार मे पली है। आज भूखी-प्यासी और थकी-मांदी पड़ी है। भाग्य का चक्र ही जो ठहरा। पर यही तो परीक्षा का समय है। ऐसे कठिन समय पर धैर्य रख कर धर्म की रक्षा करना ही सच्ची धर्मनिष्ठा है।

थे। लेकिन उनका चित्त शान्त था। प्रातःकाल उठ कर रात्रिक प्रतिक्रमण किया। छठा आवश्यक करते समय विचार किया— कल की तरह आज भी भोजन का कोई योग दिखाई नहीं देता। बेला करने का सहज ही अवसर मिल गया है। फिर क्यों न षष्ठभक्त का प्रत्याख्यान कर लिया जाय? यह सोच कर दोनों ने षष्ठभक्त का प्रत्याख्यान किया और आगे चल पड़े।

आज दोनों को बहुत थकावट मालूम हो रही थी। भूख के कारण चलना कठिन हो रहा था। फिर भी चलना तो था ही, अतः वृक्षों की छाया में विश्राम लेते हुए जैसे-तैसे चलने लगे। रात्रि होने पर एक गाँव में ठहर गए।

तीसरे दिन भी वही हालत थी। दोनों ने अष्टम भक्त का तप अंगीकार कर लिया। प्रभात होने पर आगे प्रस्थान किया, किन्तु आज चलना बहुत कठिन हो गया। चित्त उठने लगा, चक्कर आने लगे। लेकिन ठहर जाना सम्भव नहीं था। किसी भी प्रकार बस्ती में पहुँचना था। बीच-बीच में ठहरते हुए और चित्त शान्त होने पर चलते हुए तीसरे पहर वे एक ग्राम के निकट जा पहुँचे। वहाँ कल-कल ध्वनि करती सरिता प्रवाहित हो रही थी। शीतल पवन चल रहा था। किनारे पर खड़े वृक्षों की ठंडी छाया थके-मांदे राहगीरों को विश्रान्ति लेने के लिए आह्वान कर रही थी।

दोनों बटोही एक तरु के नीचे बैठ गये। गुणी अपनी उंगलियों की सहायता से पञ्च परमेष्ठी का जाप करने बैठी तो उसे आज नाम ही याद न आने लगे। उसने जाप को स्मरण रखने के लिए एक सौ आठ कंकर बीन कर रख लिये और इतने ही जिनदास के सामने रख दिये।

सुगुणी उठी बडी कठिनाई के साथ। उसने श्रद्धा और प्रीति के साथ प्रतिक्रमण आदि नित्य-नियम किया। तत्पश्चात् बोली—अब अर्द्धराज की कथा कह सुनाइये। सौठी भाजी भी वहीं आ बैठी।

जिनदास—इस कथा का सार यह है कि सुख और दुःख मे जो समान रहता है, उसे अन्त मे सुख की ही प्राप्ति होती है।

सुगुणी—सार तो समझ गई, पर कथा भी कहिए।

जिनदास—सुनो! अतिशय रमणीय कुशस्थलपुर नामक नगर था। वहाँ श्रीधर नामक एक सेठ रहता था। उसके यहाँ अपरिमित धनराशि थी, सब कुछ था, पर घर का दीपक—पुत्र, नही था। पुत्र के अभाव में सेठ रात-दिन चिन्तित रहता था। उसे घर सूना-सूना दिखाई पड़ता था। पुत्र-प्राप्ति के लिए श्रीधर ने अनेक उपाय किये। तब कहीं अन्तराय दूर होने पर वृद्धावस्था में उनकी आशा फलवती हुई। उनकी पत्नी सगर्भा हुई, यथा समय एक सुन्दर बालक ने जन्म धारण किया।

बालक बड़ी कठिनाई से बुढापे में हुआ था और सम्पत्ति की कोई कमी नही थी। ऐसी स्थितिमे सेठ को कितनी प्रसन्नता हुई होगी। और कितने ठाट से उसने जन्मोत्सव मनाया होगा, पाठक स्वय कल्पना कर सकते हैं। लोकरूढि के अनुसार सब प्रकार के व्यवहार साधकर श्रीधर सेठ ने अपने सुखदायी पुत्र का 'सुखदत्त' नाम रक्खा। सुखदत्त के पालन-पोषण के लिए पाँच धायो की नियुक्ति की गइ। शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह बालक प्रतिदिन बढने लगा।

जिनदास का हृदय भर आया। अपनी सुकुमारी पत्नी की दयनीय दशा देखकर उनका सदय हृदय द्रवित हो उठा। स्वर में स्नेह का माधुर्य भर कर उन्होंने पत्नी से कहा—प्रिये! सावचेत होवो। प्रतिक्रमण और नित्यनियम का समय निकला जा रहा है। यह सोने का समय नहीं है।

सुगुणी—नाथ, आज तो बैठा भी नहीं जाता। मुझे नहीं मालूम था कि जीवन में अन्न का क्या महत्त्व है? सुनती थी—"अन्नं वै प्राणा.।" अर्थात् अन्न ही प्राण है। यह बात आज समझ में आ रही है। इस समय उठने की भी हिम्मत नहीं है। जी घबरा रहा है।

जिनदास—मैं देख रहा हूं, परन्तु सुख-दुख में समान भाव से धर्म का आचरण करना ही उचित है। आखिर तो धर्म से ही सकट टलेंगे।

अबन्धूनामसौ बन्धुरसखीनामसौ सखा।
अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सल ॥

अर्थात्—धर्म बन्धुहीनो का बन्धु है, मित्रहीनो का मित्र है, अनाथों का नाथ है और समस्त जगत् का वत्सल है।

प्रिये! इस परिस्थिति में भी धर्म का आचरण त्याग देना योग्य नहीं है। धर्म को हृदय मे स्थान दिये रहोगी तो तुम्हे भी अर्धराज की भाँति सुख और श्री की प्राप्ति होगी।

सुगुणी—अर्द्धराज कौन?

जिनदास—यह कथा बड़ी रोचक है। प्रतिक्रमण के पश्चात् कहूँगा।

कर्म करते समय भविष्य का तनिक भी विचार नहीं करते । हाँ, जो विवेक से विभूषित हैं, वे सदा सावधान रहते हैं ।

पूर्वोपार्जित कर्म किसी के साथ रियायत नहीं करते । चाहे कोई चक्रवर्ती हो, चाहे सम्राट हो, कोई ऋषि-मुनि या साक्षात् तीर्थंकर ही क्यों न हो, सब को अपने किये कर्म भोगने पड़ते हैं ।

क्व च ननु जनकाधिराजपुत्री,
क्व च दशकन्धरमन्दिरे निवासः ।
अति खलु विषमः पुराकृतानां,
भवति हि जन्तुषु कर्मणा विपाकः ॥

कहाँ साक्षात् वासुदेव लक्ष्मण की भौजाई, महाशक्तिशाली दाशरथी रामचन्द्र की पत्नी और महाराजा जनक की पुत्री सीता और कहाँ रावण के घर में विवश होकर उसका निवास ! सचमुच पूर्वकृत कर्मों का विपाक अत्यन्त ही दारुण होता है !

जब अशुभ कर्म का उदय आता है तो अचानक ही प्रतिकूल संयोग उपस्थित हो जाते हैं और देखते-देखते विराट विभूति, इन्द्रजाल-प्रदर्शित वैभव के समान विलीन हो जाती है ।

सुखदत्त के अशुभ कर्म उदय में आए तो उसके पिता का देहान्त हो गया । थोड़े ही दिनों में माता भी चल बसी । लेनदार उसके पीछे लग गए । सुखदत्त ऋण चुकाने की व्यवस्था न कर सका । अवसर देख कर मुनीम-गुमास्ते भी न चूके । उन्होंने अपना उल्लू सीधा किया । परिणाम यह हुआ कि सुखदत्त का वैभव अतीत की वस्तु बन गया । उसके रहने का मकान भी

सुखदत्त अपने माता-पिता का अतिशय प्रेमपात्र पुत्र था। अतएव उसकी सभी कामनाएँ अविलम्ब पूरी की जाती थी। सन्ध्या के समय श्रीधर सेठ घोड़ा सजवा कर उसे सैर कराने ले जाते थे। वह उसे अपने साथ बिठलाते और नगर मे घुमाते थे। ऐसा करते-करते बहुत दिन बीत गए।

बालक कच्ची मिट्टी का लौंदा है। उसे कुम्भार चाहे जिस रूप में ढाल सकता है। बालक के कुम्भार माता-पिता आदि सरक्षक है, बचपन में वे जैसे सस्कार डालना चाहे, डाल सकते हैं। बालक को जैसा चाहे; बना सकते है।

प्रतिदिन घोड़े पर चढ़ाकर फिराने से बालक सुखदत्त को घुड़सवारी का व्यसन हो गया। अब उससे सन्ध्या समय घुड़सवारी किये बिना रहा नही जाता था। उसका पिता किसी दिन कारणवश न जाता तो सुखदत्त रोता, परेशान करता, और अपने नौकर के साथ घूमने जाता था। कहावत है—

करत-करत अभ्यास के, जडमति होत सुजान।

अर्थात्—मूर्ख मनुष्य भी जिस काम का बार-बार अभ्यास करता है, उसमें वह निष्णात हो जाता है। सुखदत्त दैनिक अभ्यास के कारण घुड़सवारी मे निपुण हो गया। अश्व फिराने की विद्या उसे सिद्ध हो गई। अब सुखदत्त वयस्क हो गया था और अकेला ही घुड़सवारी किया करता था।

कर्म बड़े बलवान् हैं। लोग हँस-हँस कर जिन कर्मों का सचय करते हैं, रो-रो कर उनका फल भुगतना पड़ता है। फिर भी आश्चर्य है कि लोग इस अटल सत्य की उपेक्षा करते हैं और

और अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ भविष्य को अनुकूल बनाने की चेष्टा करे। कायर अपने भूतकाल को रोते हैं, वीर पुरुष अपने भविष्य के निर्माण मे जुट पडते हैं।'

उसी दिन सुखदत्त रस्सी और कुल्हाड़ी लेकर जगल की ओर चल दिया। उसने लकडी काटने और बेचने का धन्धा करने का निश्चय कर लिया। एक बार उसके मन मे विचार आया कि मै, श्रीधर सेठ का पुत्र, जब मस्तक पर लकड़ियो का भारा लेकर नगर मे आऊँगा तो लोग क्या कहेगे ? पर उसी समय उसने इस तुच्छ विचार को ठुकरा दिया। मैं शरीरश्रम करके अपनी रोटी कमाऊँगा, किसी से भीख नहीं मागूँगा। इसमे बुराई क्या है ? आखिर लोगो ने क्यो समझ लिया है कि अपनी शारीरिक शक्ति का उपयोग करना बुरी बात है ? अन्याय-अनीति से पेट भरना पाप है। छल-कपट करके द्रव्योपार्जन करना पाप है। पूजी के द्वारा पूजी बढ़ाना पाप है। एक देकर चार वसूल करना पाप है। चोरी करना, जेब कतरना, डाका डालना पाप है। परन्तु शारीरिक श्रम करके पैसा पैदा करने में क्या बुराई है ? यह तो उच्च से उच्च श्रेणी की प्रामाणिकता है। स्वय श्रम करके निर्वाह करने वाला महारम्भ और महापरिग्रह के पाप से अनायास ही बच सकता है। मै लोगों के कहने की परवाह नही करूँगा। लोग हँसेगे तो मैं भी उनकी मूर्खता पर हँस दूगा।

सुखदत्त उस दिन लकड़ियों का भारा लाया और उसे आठ आने में वेच दिया। उसमें से चार आने अपने भोजन मे खर्च किये और शेष चार आने अपने व्यसन की पूर्त्ति में।

भोजन खर्च से बचे चार आने लेकर सुखदत्त धोबी के पास पहुँचा। धोबी को एक आना देकर उसने एक घटे के लिये

नीलाम पर चढ़ गया। वह अब पूरी तरह दरिद्रता के चंगुल में फँस गया।

फिर भी सुखदत्त घुड़सवारी का परित्याग न कर सका। उसके पास अब भी घोड़ा बच रहा था। सब कुछ चले जाने पर भी घोड़े के बचे रहने से उसे सन्तोष था। वह पूर्ववत् संध्या समय घोड़े पर सवार होकर निकलता था। परन्तु एक दिन एक लेनदार ने घोड़े पर भी कब्जा कर लिया। घोड़े के चले जाने पर आज सुखदत्त ने समझा कि मेरा सर्वस्व चला गया है।

सुखदत्त को घोड़ा अत्यन्त प्रिय था। उसके प्रेम से प्रेरित होकर वह रात्रि के समय घुड़साल में जाकर सोया। परन्तु उसे निद्रा नहीं आई। वह सोचने लगा—मैं घोड़ा फेरे बिना नहीं रह सकता। कुछ भी हो, घोड़ा फिराना ही होगा। गहरा विचार करते-करते उसने एक उपाय खोज निकाला।

सुखदत्त के हाथ में एक अंगूठी थी। प्रातःकाल होते ही उसने बाजार में जाकर वह अंगूठी बेच डाली और उसके दामों से एक कुल्हाडी और रस्सी खरीदी।

सुखदत्त पिता के अन्धे लाड-प्यार में पला था, अतएव उसने विद्या उपार्जन नहीं की थी। आज वह सोचने लगा—'मेरे पिताजी ने मुझे शिक्षा दी होती तो आज मेरी यह दशा न होती। आराम से भर पेट भोजन पाने योग्य कोई काम कर लेता। मगर अब इस विचार से क्या लाभ है? जो बात बीत गई है, उसके लिये पश्चात्ताप करते बैठे रहने से कोई सुपरिणाम नहीं आ सकता। मनुष्य को चाहिये कि वह अधीरता और कायरता का परित्याग करके वर्त्तमान स्थिति का सामना करने का साहस करे

कोई तेल फुलेल अर्पित करने लगा। अर्द्ध राजा नित्य नयी पोशाक मे निकलता और घोड़े को नित्य नयी चाल चलाता। लोग उगली उठा कर कहते—अरे, यह घोडा अमुक का है और यह आभूषण अमुक के हैं। यह सुन कर घोड़े और गहनो के स्वामी अपना गौरव समझते थे।

कुछ ही दिनों में उस नगर में अर्द्ध राजा की धूम मच गई। उसके निकलने का समय होने से पहले ही नर-नारियो के झुंड के झुंड सड़क के दोनो ओर तथा मकानों की छत पर इकट्ठे हो जाते। एक-एक आदमी कई-क कोई देखने के लिए घसीट लाता। कहते—देखो तो सही क्या ठाठ है! देखें, आज किसका घोडा निकलता है! कोई कहता—देखें आज किसका गहना पहन कर अर्द्ध राजा आता है।

यह क्रम चलते-चलते बहुत दिन हो गये। अर्द्ध राजा दिन में कुल्हाड़ी लेकर जगल मे चला जाता चौथे पहर तक भारा लेकर आ जाता था। नगर मे उसे सभी पहचानने लगे थे। अतएव ज्यों ही वह भारा लेकर आता, लोग उसे खरीदने के लिए टूट पड़ते और मुँह मागे दाम देकर ले लेते। कई बार तो एक साथ इतने ग्राहक जमा हो जाते कि उसे अपना भारा बेचना कठिन हो जाता। किसे बेचे और किसे नही, यह समस्या उसके सामने खडी हो जाती।

कई बार नगर के धनिको ने उसे कठोर श्रम न करने का परामर्श दिया। कहा—हमारे यहाँ सुखपूर्वक रहो और हमारे घोडे को नाचना सिखाओ। तुम्हे चाहिए क्या? आगे—पीछे कोई है नही। भोजन और वस्त्र की हमारे यहाँ कमी नही। फिर भी जो चाहोगे सभी मिलेगा।

भाड़े पर कपड़े लिये और बढ़िया पोशाक सजाली। तत्पश्चात् वह सराफ की दुकान पर आया। एक आना उसे देकर गहने भाड़े पर लिये। एक पैसा देकर माली से सुन्दर माला खरीद कर पहन ली। एक पैसे का पान खाया। फिर राजा की घुड़साल पर आया। अश्वपाल को एक आना देकर घोड़ा भाड़े ले लिया। अश्वपाल भी उसके साथ हो गया। इस प्रकार पूरी तरह सज-धज कर सुखदत्त शान के साथ अश्व पर सवार हुआ और सदा की भाँति बाजार मे आया। लोग आश्चर्यमयी दृष्टि से उसे देखने लगे। कहने लगे—अरे, यह कौन है ? यह कौन है ? इसका शृंगार अर्द्ध राजा के समान शोभा दे रहा है। धीरे-धीरे जनता उसका असली नाम भूल गइ। अर्द्ध राजा के नाम से वह प्रख्यात हो गया। प्रतिदिन उसका यही क्रम चलने लगा।

अर्द्ध राजा बाल्यावस्था से ही घोड़ा नचाने की कला में कुशल हो गया था। बाजार मे जब निकलता और अश्व को नचाता, कुदाता और थेई-थेई करवाता तो क्या बालक और क्या वृद्ध, क्या नर और क्या नारी—सभी दर्शक मुग्ध हो जाते। वह इस प्रकार घड़ी भर बाजार में घूम कर अपने ठिकाने चला जाता। सब की चीजें उन्हें वापिस सौंप देता और रात्रि मे मस्ती की नींद सोता।

अर्द्ध राजा की अश्व फिराने की कुशलता देख-देख कर अनेक अश्वाधिपति उसे अपना-अपना अश्व देने को लालायित हो उठे। एक कहता—आज हमारे घोडे पर सवारी कीजिए तो दूसरा कहता—नहीं, आज हमारे घोड़े की बारी है। इस प्रकार अर्द्ध राजा को एक से एक उत्तम घोड़े सवारी के लिए मिलने लगे। कोई उसे गहना देने लगा, कोई पान खिलाने लगा और

यथा समय मुनि महाराज का ध्यान पूर्ण हुआ। नेत्र खुले। नेत्रो की प्रशान्त ज्योति मे स्नान करके सुखदत्त अपने को पावन मानने लगा। वह उस दिव्य ज्योति को अपनी आँखों में समा लेना चाहता था कि उसी समय मुनिराज के मुखचन्द्र से सुधा बह उठी—'भव्य' तुम कौन हो ?

सुखदत्त—मैं वणिक् हूँ।

मुनि—वन मे आगमन का प्रयोजन ?

सुखदत्त—मैं आजकल लकडहारे का काम करता हूं। अशुभ कर्म के उदय से यह स्थिति हुई है।

मुनि—जिसका सुख न रहा, उसका दुःख भी न रहेगा।

सुखदत्त—आपके आशीर्वाद के लिए आभारी हूँ।

मुनि—यह आशीर्वाद नही, वस्तुस्वरूप का दिग्दर्शन मात्र है।

सुखदत्त—भगवन्! मेरे कल्याण का कोई मार्ग बतलाइए

मुनि—कल्याण का मार्ग ? तीर्थंकर के चरणचिह्नों पर चलना।

सुखदत्त—बस, और कोई मार्ग नहीं है ? हम जैसे संसारी जनो के लिए प्रभु के पास भी कोई मार्ग नहीं है ?

मुनि—नहीं। सच्चा सुख त्याग के बिना संभव ही नहीं।

सुखदत्त—और जो त्यागी न बन सके, वह दुःख के दल-

अर्द्ध राजा हँस कर कहता—कौन बुद्धिमान् राजा होकर दास बनना पसन्द करेगा ? मैं अपने परिश्रम और कला-कौशल के प्रभाव से इस नगर में अर्द्ध राजा कहलाता हूँ। यह राजपाट छोड़ कर कौन गुलामी करे ? मुझे अपना यही स्वाधीन जीवन प्रिय है पराधीनता के अभिशाप के साथ मैं कुबेर के भण्डार से भी घृणा करता हूँ। स्वाधीनता के साथ मेरी अठन्नी ही भली है।

× × × ×

सुखदत्त लकडियाँ काटने के लिये वन मे घूस रहा था। अचानक उसकी दृष्टि एक निर्ग्रन्थ मुनि पर जा पड़ी। मुनि एक वृक्ष के नीचे विराजमान थे। ध्यान मे मग्न थे। उनकी मुखमुद्रा से प्रशम का पीयूष झर रहा था। ललाट पर गहरी दिखलाई देने वाली तीन अखण्ड रेखाएँ उनकी रत्नत्रय की गभीर साधना की साक्षी दे रही थीं। उनकी तल्लीनता वीतरागता को प्रकट कर रही थीं। भाल की तेजस्विता तपस्तेज की प्रखरता का प्रमाण उपस्थित कर रही थी। अनिवार्य धर्मोपकरणो के अतिरिक्त उनके पास कोई वस्तु नहीं थी। यह उनकी अकिंचनता का प्रतीक था। जगत् के आमोद-प्रमोद से पृथक् होकर यह महात्मा किस अनिर्वचनीय और अकल्पनीय सुख की, गवेषणा कर रहे है ? सर्वस्व त्याग कर यह क्या पाना चाहते हैं ? इत्यादि अनेक मौन प्रश्न सुखदत्त के अन्तस्थल में लहराने लगे। मुनि की शान्त और मनमोहक छवि देख कर हठात् वह उनकी ओर आकर्षित हो गया। महात्मा परमात्मा का ध्यान कर रहे थे। और सुखदत्त महात्मा का ध्यान कर रहा था। मुनि की समाधि भग करने का उसे साहस नहीं हुआ। उसने बिना आहट किये, दबे पाँव जाकर मुनि को वन्दना की और ध्यान पूर्ण होने की प्रतीक्षा करने लगा।

दल से ही फँसा रहे ? उसके उद्धार का भी कोई उपाय होना चाहिए।

मुनि—ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो त्याग न कर सकता हो। त्याग की मात्रा में तरतमता हो सकती है।

सुखदत्त—वह किस प्रकार ?

मुनि—तुम पूर्ण त्यागी नहीं बन सकते तो अपूर्ण त्यागी ही बनो। तुम लकड़िया काटने का धन्धा करते हो। अगर हरि लकडियाँ काटने का त्याग कर दो तो आंशिक त्यागी हो जाओगे। यह त्याग भी सुख का ही मार्ग है।

सुखदत्त—आपका आदेश शिरोधार्य है।

मुनि—प्रतिज्ञा अंगीकार करने से पहले सोच लो। प्रतिज्ञा न लेने की अपेक्षा लेकर भंग करना बड़ा पाप है।

सुखदत्त—सोच लिया, प्रभो! प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजीविका के निमित्त मैं हरी लकड़ी नहीं काटूँगा।

मुनि—इस प्रतिज्ञा का उद्देश्य तो समझ गए।

सुखदत्त—आपके आदेश के अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं समझना है।

साधारण मुनि होता तो अपने प्रति भगत की अनन्य निष्ठा देखकर फूला न समाता। पर यह मुनि तत्त्वदर्शी थे। बोले—नहीं भद्र, धर्म का पथ नेत्र बन्द कर चलने का नहीं है। नेत्र खोलकर चलने वाला ही कुपथ में बच कर सत्पथ पर चल

और नगर के बाहर ठहरा था। सन्ध्या-समय नगर की सैर करने के लिए वह बाजार में आया। उसने बाजार में अपार भीड देख कर एक वृद्ध पुरुष से पूछा—क्यो महाशय, यह भीड़ किस लिए हो रही है ?

वृद्ध ने वणिजारे को अजनवी आदमी समझ कर उत्तर दिया—सुन्दर शृगार सजा कर अश्व को खिलाता हुआ अर्द्ध राजा आने वाला है। उसे मुजरा करने के लिए यह भीड़ जमा हुई है।

वणिजारा यह उत्तर सुन कर आश्चर्य में पड गया। सोचने लगा—पूरे राजा तो बहुत देखे है, पर आधा राजा आज ही सुना, जिसे देखने के लिए इतनी भीड़ जमा हो रही है! इस आधे राजा ने मनुष्यों का ऐसा मन मोह लिया है!

उसी समय नल-कूबर के समान अर्द्ध राजा आया। अश्व को नचाता हुआ अर्द्ध राजा जब बाजार के बीच से निकला तो सब लोग मस्तक नमा-नमा कर उसका अभिवादन करने लगे। अर्द्ध राजा भी अत्यन्त नम्रता के साथ अपना मस्तक झुकाता और बदले में प्रणाम करता चला जाता था।

अर्द्ध राजा लक्खी वणिजारे के पास होकर निकला। वणिजारे ने भी झुक कर नमस्कार किया। नया आदमी देख कर अर्द्ध राजा ने उससे पूछा—भाई, तुम कौन हो ? कहाँ से आए हो ? कहाँ जा रहे हो ? क्या काम करते हो ?

अर्द्ध राजा की नम्रता देख कर वणिजारा अतीव प्रसन्न हुआ और बोला—स्वामिन्! मै वणिजारा हूँ। भद्दलपुर से

के प्रति दयालुता धारण करने का प्रथम चरण है।

इसके अतिरिक्त वृक्ष अनेक प्रकार से सृष्टि के लिए उपयोगी हैं। वे शीतल छाया देते हैं, फल-फूल देते हैं, गगनविहारी मेघों को खींचकर वर्षा बरसाते हैं। इसलिए उनके विनाश को रोकना सार्वजनिक हित की दृष्टि से भी उपयोगी है।

सुखदत्त—धन्य भाग्य मेरे कि आपके दर्शन हुए। भगवन्! मैं अपनी प्रतिज्ञा का आजीवन पालन करूँगा और प्रतिज्ञा के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए भी सावधान रहूँगा।

× × × ×

प्रतिज्ञा लेकर सुखदत्त मुनि के पास से रवाना हुआ। संयोग की बात है कि बहुत खोजने पर भी उसे उस दिन सूखी लकड़ियाँ न मिली। उसे बावन चन्दन का वृक्ष दृष्टिगोचर हुआ, किन्तु हरा था और हरे वृक्ष को काटने का वह त्याग कर चुका था। अतएव वृक्ष के नीचे पतली-पतली टहनियाँ जो पड़ी थीं, उसने वही उठा कर सन्तोष माना। दातौन सरीखे पाँच-सात मुठिये बाँध कर वह नगर में चला आया। उनमें से एक मुठिया बेच कर कुछ पैसे लिये और झटपट भोजन करके तैयार हो गया। घुड़सवारी का समय सन्निकट आ गया था।

जब मनुष्य के पाप-कर्म का अन्त आता है और पुण्य प्रकट होने को होता है तो स्वतः सद्बुद्धि जाग उठती है। उसे संयोग भी ऐसे ही मिल जाते हैं। अब सुखदत्त के पुण्य का उदय आरम्भ हो रहा था।

उन दिनों इस नगर में एक लक्खी-वणिजारा आया था

वणिजारा राजा के दरबार में गया। वहाँ राजा को न देख कर उसने दीवान से मुलाकात की और पूछा—महाराज दरबार में उपस्थित नहीं होते क्या? तब दीवान ने कहा—महाराज कुष्ट व्याधि से ग्रस्त हैं। बाहर निकलने मे उन्हें सकोच होता है, अतएव वे आजकल महल में ही रहते हैं,

वणिजारा—कोई उपचार नह हो रहा है?

दीवान—सैंकड़ो उपचार किये गये, किन्तु कोई भी कारगर नहीं हुआ।

वणिजारा—मैं महाराज के लिए एक औषध लाया हूं।

दीवान—ठीक है, आप स्वय जाकर सेवा में उपस्थित कीजिए।

प्रधान ने मुलाकात की व्यवस्था कर दी। वणिजारे ने महाराज के पास जाकर यथोचित अभिवादन किया और समस्त उपहार उनके समक्ष प्रस्तुत किये। उसने अर्द्धराजा की प्रशसा करते हुए चन्दन का मूठा भी दिया। उसे पाकर राजा को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। वणिजारे के कहने पर महाराजा ने चन्दन की दातौन की और उसी समय घिसवा कर अपने कुष्ठयुक्त शरीर पर लेप भी किया। बावन चन्दन के सेवन से महाराज को तत्काल शान्ति का अनुभव हुआ। शरीर का चेप मिट गया। जादू का सा प्रभाव देख कर राजा के हर्ष की सीमा नहीं रही।

राजा ने उसी समय प्रधान को बुलवा कर पूछा—प्रधानजी यह अर्द्धराजा कौन हैं?

प्रधान—अन्नदाता, मैं भी उनसे परिचित नहीं हू।

आया हूं, कणियापुर जाने का विचार है। अभी नगर के बाहर ठहरा हूँ।

अर्द्धराजा—कणियापुर के राजा मेरे काका लगते हैं। सुना है वे कुष्ट की व्याधि से पीड़ित हैं। यह सुनकर मुझे बहुत दुख हो रहा है। मिलने की बहुत उत्सुकता है, पर क्या करूँ, क्षणभर का अवकाश नहीं है। उनके लिए मैंने औषधि रख छोड़ी है। सोचता था, कोई योग्य साथ मिल जाए तो भेज दूँ। आज भाग्य से तुम मिल गए। मेरा इतना काम जरूर करना। यह बावन चन्दन है। महाराजा के पास पहुँचा देना और इसकी दातौन करने को कह देना। थोड़ा-सा घिस कर अंग पर लगा भी लें। इससे सारी बीमारी दूर हो जायगी। मेरी ओर से सुख-साता भी पूछना। नम्रता के साथ प्रणाम कह देना। यह भी कहना कि पिताजी की मृत्यु के बाद आपने एक भी पत्र नहीं लिखा। ऐसी रुखाई किस काम की? किस कारण मेरे ऊपर से आपका मन उतर गया है?

अन्त में अर्द्धराजा ने कहा—जब तुम लौटोगे तो मैं इसी समय और इसी जगह मिलूँगा।

इतना कह कर अर्द्धराजा ने अपना घोड़ा आगे बढ़ा दिया। वणिजारा यह सब देख—सुन कर चकित रह गया। वह सोचने लगा—अर्द्ध राजा इतने बड़े होकर भी कितने नम्र हैं।

इस प्रकार अर्द्धराजा की प्रशंसा करता हुआ वणिजारा अपने टांडे में आया। बैलो को लदवाकर वह यथासमय कुशस्थलपुर से रवाना हो गया और बीच-बीच मे मुकाम करता हुआ कणियापुर आ पहुचा।

कणियापुर पहुँचते ही मूल्यवान् उपहारों के साथ

ने उसे सिर झुका कर नमस्कार किया और कणियापुर नरेश के सब समाचार सुनाए। अन्त मे कहा—आपके प्रेम से प्रभावित होकर उन्होने यह उत्तम अश्व आपको उपहार स्वरूप भेजा है। इसे स्वीकार कीजिए।

अर्द्धराजा ने घोडे पर एक दृष्टि डाल कर कहा—भाई, इसकी मुझे आवश्यकता नहीं है। ऐसे-ऐसे गधेडे यहाँ बहुत हैं। फिराने वाला मैं एक हूं। नित्य नये घोडे लाता हूँ तो भी वर्षों मे बारी आती है। मै इसे लेकर क्या करूँगा ? हाँ, यह तो बतलाओ, अब तुम कहाँ जा रहे हो ?

वणिजारा—महाराज, मैं भृगुकच्छ जाऊँगा।

अर्द्धराजा—ठीक है। वहाँ मेरे मामा के लडके भाई हैं। तुम राजाजी से मिलना। यह अश्व उन्हीं को भेंट कर देना और प्रेम के साथ मेरा मुजरा अर्ज कर देना। लौटो तो फिर इसी जगह मिलना।

वणिजारा प्रसन्नता के साथ अर्द्धराजा का उपहार ले जाने को तैयार था। इस बहाने राजा के साथ घनिष्टता स्थापित करने मे उसे सुभीता होती थी।

वणिजारा हर्ष के साथ घोड़े को ले गया और यथासमय भृगुकच्छ जा पहुचा। वहाँ वह राजा से मिला। अर्द्धराजा की प्रीति का सुन्दर शब्दों मे वर्णन करके उसने अश्व भेंट किया। उत्तम जाति के घोड़े को, बहुमूल्य आभूषणों सहित देख कर भृगुकच्छ-नरेश को असीम प्रसन्नता हुई, परन्तु उन्हें स्मरण नहीं आया कि यह अर्द्धराजा कौन है ? तब उसने अपने सचिव को

राजा—मगर उनकी मेरे प्रति बडी सद्भावना और प्रीति है वह मेरी व्याधि से अत्यन्त चिन्तित हैं। देखिए, कितनी प्रभावशालिनी औषध भेजी है। लगाने के साथ ही आराम मिल रहा है। बिना प्रेम कौन किसे स्मरण करता है ?

प्रधान—यथार्थ है कोई पुराने प्रेमी प्रतीत होते हैं।

महाराज ने वणिजारे की ओर उन्मुख होकर कहा—अर्द्धराजा को कौनसी वस्तु अत्यन्त प्रिय है ?

वणिजारा—महाराज, उन्हें घुड़सवारी का गहरा शौक है। वह प्रतिदिन नये-नये घोड़े पर सवार होकर निकलते हैं और प्रसन्नता के साथ सैर करते हैं। घोडा उन्हे अतिशय प्रिय है।

महाराज—ठीक है। हमारे देश में अति उत्तम घोड़े होते है। तुम लौटो तो एक बढ़िया घोड़ा उनके लिए ले जाना।

थोड़े दिनों बाद, जब माल बेच कर वणिजारा लौटने लगा तो कणियापुर-नरेश ने अर्द्धराजा के लिए एक प्रेम-पत्र दिया और मणि-जटित स्वर्ण के अनेक आभूषणो से सजाकर एक उत्तम जाति का अश्व उपहार में दिया।

वणिजारा चलता-चलता वापिस कुशस्थलपुर लौटा। वह अर्द्धराजा से मिलने के लिए व्यग्र हो रहा था। अतएव अश्व को तैयार करके वह उसी जगह आ पहुंचा, जहाँ मिलने के लिए अर्द्धराजा ने उससे कहा था।

थोड़ी देर में अर्द्धराजा भी अपने घोड़े को नचाता हुआ वहाँ आ पहुँचा। वह वणिजारे को देखकर रुक गया। वणिजारे

लगे। अर्द्धराजा ने एक जगह आकर देखा—वही वणिजारा खडा है और अब की बार उसके पास सजा-सजाया एक गजराज भी है।

वणिजारे ने मुजरा करके भृगुकच्छ के सब समाचार कहे। भृगुकच्छ-नरेश का मुजरा निवेदन किया और कहा—उन्होने अतिशय प्रीति के साथ आपकी सेवा में यह गजराज उपहार मे भेजा है।

अर्द्धराजा ने गजराज पर एक उपेक्षापूर्ण दृष्टि डाली और कहा—क्या करूँगा इसका ? यहाँ वन मे ऐसे-ऐसे भैंसे बहुत फिरते हैं। अब तुम कहाँ जा रहे हो ?

सिहलद्वीप में पारापुर नगर बड़ा सुहावना है। अब की बार वहाँ जाने का विचार किया है।

अर्द्धराजा—अच्छा, वहाँ के राजा मेरे पिताजी के मित्र हैं। यह गजराज ले जाकर उन्हीं को भेंट कर देना।

वणिजारा सिहलद्वीप मे आ पहुचा। राजा से मुलाकात करके उसने अर्द्धराजा की ओर से भेजा हुआ उपहार प्रस्तुत किया। साथ ही अर्द्धराजाके रूप की बुद्धि की, बल की, उदारता की भूरि-भूरि प्रशसा की।

राजा थोडी देर विचार मग्न रहा। प्रयत्न करके भी वह अर्द्धराजा को स्मरण न कर सका। तब उसने अपने प्रधान से पूछा—कौन है यह अर्द्धराजा ?

प्रधान—अन्नदाता, मैं पहचानता तो नहीं हूं, परन्तु बिना

बुलाकर पूछा—यह प्रेमी अर्द्धराजा कौन है ?

सचिव ने सकुचित होकर कहा—मैं नहीं पहचानता।

दोनो लज्जित थे।

राजा ने वणिजारे से कहा—तुम्हारा शुल्क माफ कर दिया गया है। जो माल लाये हो, सब राज्य के भण्डर मे डाल दो और जो चाहे मूल्य ले लो। वापिस लौटने लगो तो मिल कर जाना।

लौटते समय जब वणिजारा राजा से मिलने गया तो राजा ने कहा—देखो अर्द्धराजा से हमारा मुजरा कह देना और साथ मे जो उपहार भेजा जा रहा है, उसे हमारी ओर से उन्हे भेंट दे देना। खूब प्रेम प्रकट करना। उनके उपहार के लिये कृतज्ञता प्रकट करना।

राजा ने उपहार मे देने के लिये एक सुन्दर गजराज तैयार करवाया था। उसकी पीठ पर जरी की झूल और सोने का हौदा था। उसमें रत्नों के घुघरू लटक रहे थे। सजा हुआ हस्ती बड़ा ही मनोहर दिखाई देता था।

वणिजारे ने आदर के साथ गजराज को अपनी अधीनता मे कर लिया और कुशस्थलपुर की ओर प्रस्थान किया। उसी जगह पहुंच कर वह फिर अर्द्धराजा के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। अर्द्धराजा भी सदैव की भाँति अश्वारूढ होकर बाजार मे निकला। उसके आने के पहले ही जनता में चहल-पहल मच गई। लोग दृष्टि गड़ा कर प्रसन्नतापूर्वक उसे देखने

इस समय अर्द्धराजा का पुण्य चमक रहा था। पुण्य का उदय होने पर सभी प्राणी अनुकूल हो जाते हैं और विषम से विषम परिस्थितियाँ भी अनुकूल हो जाती है। कहा भी है—

जन्मिना पूर्वजन्माप्तभाग्यमन्त्राभिमन्त्रितः।
अचेतनोऽपि वश्यः स्यात्, किं पुनर्यः सचेतनः॥

पूर्व जन्म में उपार्जित शुभ कर्म रूपी मंत्र से प्रभावित होकर जड़ प्रकृति भी वशीभूत हो जाती है, सचेतन की तो बात ही क्या है?

हाँ, तो सिंहल द्वीप के नृपति ने सार्थनायक से कहा—नायकजी! एक काम आपको सौंपना चाहता हूँ। अगर आप उसे सफलता पूर्वक सम्पन्न कर देंगे तो मुँह मांगा पारितोषिक पाएँगे। वह कोई कठिन और मुसीबत का काम नहीं है। अर्द्धराजा को किसी उपाय से यहाँ ले आइए। उन्हें मैं अपनी कन्या व्याहना चाहता हूँ। शक्ति के अनुसार राज-वैभव भी दूँगा।

वणिजारा—राजेश्वर! आपकी दृष्टि में यह काम कठिन नहीं है, परन्तु मुझे अति कठिन जान पड़ता है। वे वहाँ भी राजा को अतीव वल्लभ हैं। उनको छोड कर यहाँ आजाना बहुत कठिन है।

राजा—फिर भी उपाय तो कीजिए।

वणिजारा—अवश्य! मैं अपनी शक्ति के अनुसार पूरा प्रयत्न करूँगा। जरा भी कसर नहीं रक्खूँगा।

प्रगाढ परिचय के इतना बड़ा हाथी और इतना कीमती लावाजमा कौन किसे भेजता है ? अवश्य कोई प्रेमी होने चाहिए सार्थ-नायक ने भी उनकी मुक्त कठ से प्रशंसा की है। कोई महाभाग्यशाली होना चाहिए ।

राजा ने कहा—राजकुमारी विवाह के योग्य हो चुकी है। वह रूपवती, गुणवती और कलाकुशल भी है । ठीक जोड़ी मिलती हो तो अर्द्धराजा को देकर क्यों न अपना जामाता बना लूं ? उन्हे आधा राज्य देकर यहीं रख लूँगा ।

राजा ने सार्थवाह को सम्मान के साथ बुलाया । आदर के साथ बिठला कर कहा—अर्द्ध राजा की उम्र क्या है ? उनके रूप और गुणों का भी कुछ परिचय दो, जिससे विशेष परिचय प्राप्त हो सके ।

सार्थवाह बोला—अन्नदाता, अर्द्धराजा के गुणों का वर्णन करना मेरी शक्ति से बाहर है। वह नवयुवा हैं । उनका रूप अत्यन्त दिव्य और सुहावना है। नित्य नये आभूषण और वस्त्र धारण करते हैं। नित्य नये अश्व पर सवारी करते हैं । हजारों नर-नारी उन्हे देखने के लिए लालायित रहते हैं और देख कर मुग्ध हो जाते हैं। अश्व को तो ऐसा नचाते हैं कि अश्विनी-देवता भी थक जाय ! इतना होने पर भी उनकी नम्रता अद्भुत है। वाणी में अमृत की मधुरता है। संक्षेप मे यही कह सकता हूं कि उनके गुण अपार है। एक जीभ से उनका वर्णन नहीं हो सकता।

इस प्रकार अर्द्धराजा की विरुदावली श्रवण कर सिंहल-नरेश उसे अपना जामाता बनाने के लिए लालायित हो उठा।

सार्थनायक—स्वामिन् ! किसी बहाने से यहाँ से निकल चलिए। धन और सेना की कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो वहां भी बहुत है।

अर्द्ध राजा आगे बढ़ गया और वणिजारा अपने डेरे की ओर चल दिया। थोडी देर में अर्द्ध राजा अपने घर जा पहुँचा। उसने डट कर भोजन किया। उसकी प्रसन्नता का पार नही था। भोजन करते ही वह वणिजारे के डेरे की ओर चल दिया। जब डेरे के पास पहुंचा तो उसने दौड़ना आरंभ किया और दौड़ता-दौडता ही वह डेरे मे प्रविष्ट हुआ।

सार्थनायक ने अचानक अर्द्ध राजा को आया देखा तो सब चौकन्ने होकर खड़े हो गए। सब ने 'खमा अन्नदाता, खमा अन्नदाता' कह कर अभिवादन किया। सब उसकी ओर देखने लगे।

अर्द्धराजा ने कहा—चलना है तो अभी और इसी समय चल पड़ो। विलम्ब होने पर चल सकना मेरी शक्ति से भी बाहर होगा। राजा को पता लग गया तो अभी-अभी आकर वह मुझे वापिस ले जाएँगे।

सार्थनायक ने उसी समय सारी तैयारी कर डाली। सिंहल द्वीप से वह बढिया घोडे लेकर आया था। सब लोग उन पर सवार हो गए। घोडे हवा से बातें करने लगे।

अर्द्धराजा और उसके साथियों ने सारी रात्रि चलते-चलते व्यतीत की। थोडी देर के लिए भी कहीं विश्राम नहीं किया। सूर्योदय होने पर जब एक बडा नगर मिला तो सब ने वहीं

सार्थनायक कतिपय आदमियों को साथ लेकर कुशस्थलपुर आया और सन्ध्या-समय वहीं आकर खड़ा हो गया, जहाँ पहले कई बार अर्द्ध राजा से मिल चुका था।

नियत समय पर उसी ठाठ के साथ अर्द्ध राजा घोड़ा नचाता हुआ निकला। सार्थनायक ने उसे अपने निकट आया देख अत्यन्त हर्ष व्यक्त किया। उसने झुक-झुक कर नमस्कार किया। अर्द्ध राजा ने उसका समुचित सन्मान करके प्रश्न किया-सिंहल-नरेश का क्या हाल-चाल है? गजराज का उपहार स्वीकार कर लिया? और क्या समाचार हैं?

सार्थनायक ने हाथ जोड़ कर कहा—वहाँ सभी भाँति कुशल-मंगल है। वहाँ के महाराज रात-दिन आपकी कुशल चाहते हैं। हाँ, एक विशेष समाचार लाया हूं।

अर्द्धराजा—वह क्या?

सार्थनायक—सिंहल-सिंह की कन्या पद्मिनी है। अपरिमित रूपराशि की स्वामिनी है। सद्गुणवती है। आपको उसके योग्य वर समझ कर बुला रहे हैं। स्वामिन्, किसी भी प्रकार एक वार सिंहलद्वीप अवश्य पधारिए। मैं बड़ी आशा लेकर आया हू। मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए।

अर्द्ध राजा—भाई, मुझ पर यहाँ के महाराज का असीम प्रेम है। अगर उन्हें पता लग गया तो वे हर्गिज न जाने देंगे। परन्तु वे मेरे पिताजी के मित्र हैं। मैं ना करूँ तो कैसे करूँ? खैर, अवसर मिला तो रात्रि के समय मैं तुम्हारे डेरे पर आऊँगा मेरी प्रतीक्षा करना और यह रहस्य किसी पर प्रकट न करना।

थोड़े ही समय में शुभ लग्न मे राजा ने अपनी कन्या ब्याह दी। दहेज में अपना आधा राज्य और उसके साथ प्रचुर धन दिया। जनता की वाणी वास्तव मे सत्य सिद्ध हुई। सुखदत्त आज सचमुच अर्द्धराजा बन गया। उसके सौभाग्य ने उसे लकड़-हारे से राजा के पद पर पहुचा दिया।

एक बार उसके मन मे कुशस्थल जाने की अभिलाषा हुई। वह अपनी सेना लेकर वहाँ पहुचा। अपने परिचितों से मिला। उसके सचमुच आधे राजा होने की बात सुन कर सब को महान् आश्चर्य हुआ।

सिंहल नरेश के कोई पुत्र नहीं था। जब वह मरने लगा तो सुखदत्त को अपना सम्पूर्ण राज्य दे दिया। इस प्रकार अर्द्ध राजा पूर्ण राजा भी हो गया। धर्म के प्रसाद से उसे सभी सुख प्राप्त हुए। अवसर आने पर उसने राज्य का त्याग कर दीक्षा ग्रहण की। स्वर्ग के सुख भोगे। आगे विशिष्ट तपस्या करके वह शिवरमणी का वरण करेगा।

इस प्रकार जिनदास ने अर्द्धराजा की कथा कह कर अपनी क्लान्त पत्नी सुगुणी से कहा—सुख और दुःख के समय एक समान धर्म क्रिया करने वाले अवश्य ही उत्तम सुख को प्राप्त करते हैं। अतएव घोर से घोर दुःख पड़ने पर भी धैर्य की रक्षा करना और धर्म का आचरण करना ही धार्मिकता की कसौटी है। जो लोग विपत्ति पडने पर धर्म से विमुख हो जाते हैं अथवा धर्म को कोसने लगते हैं, समझना चाहिए कि उन्होंने धर्म के मर्म को नहीं पाया है। वे धर्म के व्यापारी हैं, धर्म के आराधक नहीं हैं।

पड़ाव डाला। वणिग्राज बड़ा ही कुशल था। वह विपुल द्रव्य साथ में लेकर चला था। उस द्रव्य से उसने वहाँ हाथी, घोड़े और रथ आदि खरीदे। बहुसंख्यक सिपाही भी नियुक्त कर लिए। उसने अर्द्धराजा को बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहना दिये। शृंगार सज लेने पर वह ऐसा भव्य दिखाई देने लगा जैसे नलकुँवर हो।

इस प्रकार पूरी तरह राजसी शान बना कर सब ने वहाँ से प्रस्थान किया। आगे-आगे हलकारे चलने लगे और पीछे-पीछे सुखदत्त आदि।

सिंहल-नरेश को अर्द्धराजा के शुभागमन का शुभ संवाद भेज दिया गया। नरेश की प्रसन्नता का पार न रहा। उन्होंने उसी समय स्वागत के लिए सेना को सुसज्जित करने का आदेश दिया। सेना तैयार होने पर नरेश स्वयं गाजे-बाजे और अपने सरदारों के साथ स्वागत के लिए सामने आए। नगर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक अर्द्धराज के आगमन की धूम मच गई। सब नगर-निवासी राजजामाता को देखने के लिए उत्कंठित होकर उसकी ओर आने लगे। विशाल जनसमूह एकत्र हो गया।

इस समय अर्द्धराजा की शान निराली थी। अब वह पूरा राजा प्रतीत होता था। उसे देख कर कोई नहीं कह सकता था कि यह आधा राजा है।

शुभ मुहूर्त में शुभ शकुन के साथ अर्द्धराजा का नगर-प्रवेश हुआ। सिंहल नरेश ने विशाल और भव्य प्रासाद में उसे ठहराया और वहाँ सभी प्रकार की राजसी सुखसामग्री की व्यवस्था कर दी।

तो 'ससार' शब्द की सार्थकता समझ मे आ जाती है। कहा भी है.—

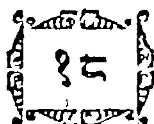
श्रीगुरु के चरणो मे जाकर सादर सविनय प्रश्न किया,
है असार ससार अगर तो क्यों यह सुन्दर नाम दिया ?
श्रीगुरु बोले भव्य जीव जो करले विदित धर्म का सार,
उनके लिए सारमय है यह, इतर जनो को है निस्सार ॥
—भारिल्ल

इस कथन से स्पष्ट है कि संसार मे यदि कोई सारभूत वस्तु है तो वह धर्म ही है। धर्म ने ही ससार को स-सार बनाया है।

धर्म के इस महत्व को जिनदास और सुगुणी ने भली-भाँति विदित कर लिया था। धर्म उनके जीवन की खुराक बन गया था। इसी कारण हम देखते हैं कि वे तीन दिन तक निराहार रह गये, किन्तु धर्म का बराबर समाराधन करते रहे। ऐसे ही अवसर पर मनुष्य की धार्मिकता की परीक्षा होती है।

अर्द्ध राजा की कथा सुना कर जिनदास ने सुगुणी का मनोरंजन नहीं किया, किन्तु उसे यह समझाया कि विपत्ति के अवसर पर भी प्रतिज्ञा पर दृढ रहने वाले अन्त मे विपत्ति को सकुशल पार कर जाते हैं और सम्पत्ति के पुनीत अधिकारी बनते हैं।

मीठी माँ जी ने भी अर्द्ध राजा की कथा सुन कर अत्यन्त हर्ष व्यक्त किया। उसने इस दम्पत्ति की प्रशसा करते हुए कहा—



दैवी सहायता



संसार सारा जिसके विना है,
अत्यन्त निस्सार मसान जैसा।
साकार है शान्ति वसुन्धरा की,
हे धर्म! तू ही जग का सहारा॥
जो जीव संसार-समुद्र मध्य,
है डूबते पार उन्हे लगाता।
त्राता नही और समर्थ कोई,
आनन्द का धाम सदा तु ही है॥

—भावना

जिसे ज्ञानी जन 'असार' समझ कर त्याग देते हैं, उसे भाषातत्त्ववेताओं ने 'संसार' नाम क्यों दिया है? असार को संसार कहने का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न पर अगर विचार किया जाय तो एक ही समाधान प्रतीत होता है। संसार 'निस्सार' होते हुए भी वह धर्म के कारण 'ससार' कहलाता है। संसार धर्म की भूमि है। इसी में रह कर मनुष्य धर्म का आचरण कर सकता है। इस अभिप्राय को ध्यान मे रखा जाय

पुण्य प्रकट होने पर किस प्रकार सारे संकट छिन्नभिन्न हो जाते हैं, यह बात जिनदास और सुगुणी के जीवन में घटित घटना से समझी जा सकती है। वह घटना इस प्रकार घटी —

रात्रि के गहन अन्धकार में एक यक्ष और यक्षिणी का युगल वहाँ होकर आकाश मार्ग से जा रहा था। वह अचानक सेठानी मां जी के घर के ऊपर होकर निकला। उनका यान वेग के साथ चल रहा था पर ज्यों ही सेठानी मां जी के मकान को लांघने लगा त्यों ही अचानक रुक गया। ऐसा प्रतीत हुआ, मानो अचानक किसी ने जबर्दस्त 'ब्रेक' लगा दिया हो। अपने यान को सहसा रुका देख यक्षयुगल विस्मय में पड़ गया। उसे किंचित् काल के लिए घबराहट भी हुई।

मगर देवताओं को दिव्य दृग् प्राप्त होते हैं। यक्ष-यक्षिणी ने अपने अवधिज्ञान का प्रयोग किया और यान के अकस्मात् रुक जाने का कारण जानना चाहा। तब उन्हें ज्ञात हुआ-अहा, इस घर में एक धर्मनिष्ठ दम्पती शयन कर रहा है। दोनों प्राणी अत्यन्त दयावान् और क्षमावान् हैं। बेचारे घोर संकट में पड़े हैं। उन्होंने दूसरों के हित के लिए अपना पैत्रिक भवन त्याग दिया है। प्रतिदिन के कलह से दूसरों के चित्त में आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान होता था उनसे उन्हें बचाने के लिए और स्वयं अपनी शान्ति की रक्षा के लिए वे पैत्रिक सम्पत्ति को तृण की तरह त्याग करके चले आए हैं। जिस धन के लिए बाप, बेटे का शत्रु बन जाता है, बेटा बाप के प्राणों का ग्राहक हो जाता है, भाई-भाई की जान ले लेता है, जिस धन के लिए लोग बड़े से बड़े पाप का आचरण करने में भी संकोच नहीं करते, जिस धन के लिए सारा संसार तड़प रहा है, उस धन को इन पुण्यात्मा प्राणियों ने सहज ही त्याग कर

तुम दोनों बहुत धर्मात्मा हो। तुम्हारा चरित्र बहुत पवित्र जान पड़ता है।

जिनदास अपनी प्रशंसा सुनकर हर्षित नहीं हुआ। उसने कहा मां जी! धर्म का आदर्श बहुत ऊँचा है। हमारे जैसे पामर प्राणी उसका स्पर्श भी नहीं कर पाते। फिर भी गुरु का उपदेश सुनकर यथाशक्ति उसका पालन करता हूं। सुगुणी का भी यही हाल है। मनुष्य भव पाकर धर्म का आचरण न किया तो क्या किया? उस हालत में मनुष्य होना ही व्यर्थ हो जाता है।

मां जी—ठीक कहते हो बेटा! तुम्हारी नम्रता भी प्रशंसनीय है।

जिनदास—माँ जी, इस ग्राम के आस पास कोई नगर भी है, जहाँ हम लोग शान्ति के साथ अपनी आजीविका उपार्जन करके रह सकें?

माँ जी—यहाँ से तीन कोस दूर पोलासपुर है। बड़ा सुन्दर शहर है। वहाँ के सब लोग सुखी हैं, उदार हैं और धर्मात्मा हैं।

जिनदास को यह बात सुन कर शान्ति प्राप्त हुई।

रात्रि काफी व्यतीत हो चुकी थी और यह दोनों थके-मांदे थे। अतएव वार्त्तालाप बंद हो गया और सब अपने-अपने स्थान पर सो गए।

धर्मात्मा जनों का पुण्य किस प्रकार प्रकट होता है और

तो पता चलेगा कि कितने लोग वास्तव में सम्यग्दृष्टि है और कितने भ्रम में पड़ कर अपने आपको झूठी सान्त्वना दे रहे हैं। आशय यह है कि जो व्यक्ति प्रत्येक सम्भव उपाय से अपने स्वधर्मी की सहायता करता है, वही सच्चे सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अगर सेठ है तो अपनी दुकान पर स्वधर्मी को ही गुमाश्ता बनाएगा। अगर डाक्टर या वकील है तो स्व-धर्मी को ही अपना सहायक-कम्पाउडर या मुंशी-बनाएगा। उसे किसी वस्तु की आवश्यकता होगी तो, जहाँ तक सम्भव होगा, अपने स्वधर्मी से ही वह वस्तु खरीदेगा। चार पैसे ज्यादा देने पड़ेंगे तो भी उसे देकर खरीदेगा। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग की स्थापना होने पर धर्म का प्रभाव बढ़ता है। धर्मात्माओं का धर्म प्रेम बढ़ता है।

यक्ष देव था और उसके अतःकरण में धर्म के प्रति प्रेम था। धर्म का प्रेम धर्मात्मा के प्रति प्रेम होने से ही व्यक्त होता है। अतएव यक्ष ने इस दम्पती की विपत्ति को अपनी ही विपत्ति समझा। उस विपत्ति को दूर किये बिना वह एक पैर भी आगे न बढ सका।

यक्ष ने उपयोग लगाया तो उसे दो सौ सोलह ककर दिखाई दिये। उसने वह ककर, जो सुगुणी व जिनदास ने णमोकार मत्र के जाप के लिए रख छोड़े थे, हरण कर लिए और उनके बदले उतने ही बहुमूल्य रत्न रख दिये।

इतना करके यक्षयुगल आगे चला गया। जिनदास और सुगुणी नींद मे थे। उन्हे इस घटना का कुछ भी पता न था। प्रभात हुआ और प्रतिक्रमण की वेला आइ तो दोनो जाग गये।

संसार को यह दिखला दिया है कि सच्चा धर्मात्मा उसे कितना तुच्छ समझता है? जिनधर्म का अनुयायी धन को धर्म से अधिक कदापि नहीं समझता। वह हंसते-हँसते धन को ठुकरा कर भी अपने धर्म की रक्षा है। यह बेचारे प्रभूत धन में से एक कौड़ी भी अपने साथ नही लाये है। यह अपने भाग्य के भरोसे चल पड़े है। धर्म ही इनका सहारा है। इन्हें तीन दिन से भोजन भी प्राप्त नही हो सका है।

रुक्मिणी का हृदय दोनो की दशा देखकर अत्यन्त द्रवित हो गया। उसने यक्ष से कहा—नाथ, इस सुकुमारी सुगुणी को तो देखो। जिसने कभी धरती पर पाँव नहीं रक्खा था, आज वही भूखी-प्यासी तीन दिन से पैदल चल रही है। थक कर कितनी परेशान है। गुलाब का फूल चण्डांशु के संताप से जैसे सूख जाता है, भूख के कारण यह वाला सूख गई है। ऐसे धर्मात्मा जीवो को साता पहुँचाना परम पुण्य की वृद्धि का कारण है। हम देवो का प्रधान कर्त्तव्य है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष के अन्तःकरण मे अपने स्वधर्मी जनो के प्रति प्रबलतर वात्सल्य-भाव होता है। भगवान ने कहा है कि जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति प्रगाढ प्रीति रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा अपने धर्मी भाई-बहिन के ऊपर प्रीति रखता है। सच्चा सम्यग्दृष्टि स्वधर्मी के कष्ट को अपना ही कष्ट मानता है, उसकी विपत्ति को अपनी ही विपत्ति समझता है और उसे दूर करने मे कोई कसर नहीं रखता। कहने को तो सम्यग्दृष्टि बहुत है और असुक कुल मे उत्पन्न होने के कारण ही बहुत लोग अपने को सम्यग्दृष्टि समझ लेते है, परन्तु सम्यक्त्व की जो विशेषताएँ शास्त्र मे बतलाई गई है, उन्हे सामने रख कर विचार किया जाय

तो पता चलेगा कि कितने लोग वास्तव में सम्यग्दृष्टि हैं और कितने भ्रम में पड़ कर अपने आपको झूठी सान्त्वना दे रहे हैं। आशय यह है कि जो व्यक्ति प्रत्येक सम्भव उपाय से अपने स्वधर्मी की सहायता करता है वही सच्चे सम्यक्त्व का अधिकारी होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अगर सेठ है तो अपनी दुकान पर स्वधर्मी को ही गुमाश्ता बनाएगा। अगर डाक्टर या वकील है तो स्व-धर्मी को ही अपना सहायक—कम्पाउडर या मुशी—बनाएगा। उसे किसी वस्तु की आवश्यकता होगी तो, जहाँ तक सम्भव होगा, अपने स्वधर्मी से ही वह वस्तु खरीदेगा। चार पैसे ज्यादा देने पड़ेंगे तो भी उसे देकर खरीदेगा। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग की स्थापना होने पर धर्म का प्रभाव बढ़ता है। धर्मात्माओं का धर्म प्रेम बढ़ता है।

यक्ष देव था और उसके अतःकरण में धर्म के प्रति प्रेम था। धर्म का प्रेम धर्मात्मा के प्रति प्रेम होने से ही व्यक्त होता है। अतएव यक्ष ने इस दम्पती की विपत्ति को अपनी ही विपत्ति समझा। उस विपत्ति को दूर किये बिना वह एक पैर भी आगे न बढ़ सका।

यक्ष ने उपयोग लगाया तो उसे दो सौ सोलह कंकर दिखाई दिये। उसने वह कंकर, जो सुगुणी व जिनदास ने णमोकार मंत्र के जाप के लिए रख छोड़े थे, हरण कर लिए और उनके बदले उतने ही बहुमूल्य रत्न रख दिये।

इतना करके यक्षयुगल आगे चला गया। जिनदास और सुगुणी नींद में थे। उन्हें इस घटना का कुछ भी पता न था। प्रभात हुआ और प्रतिक्रमण की वेला आई तो दोनों जाग गये।

प्रातःकृत्य करके और शारीरिक शुचिता करके उन्होंने सामायिक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रिया की। इस प्रकार धर्म क्रिया से निवृत्त होकर उन्होंने मीठी माजी को आवाज दी और उसकी जगह उसे सँभला कर पोलामपुर की ओर चल पड़े।

ग्राम के बाहर, कुछ दूर जाकर विश्राम लेने लगे। इधर माजी जहाँ जिनदास ठहरे थे वह स्थान झाड़ने के लिए गई तो उसे एक चमकता हुआ रत्न दिखाई दिया। बुढ़िया यद्यपि सम्पत्तिशालिनी नहीं थी, फिर भी धर्मनिष्ठा थी। वह अनीति के धन से परहेज करती थी। चाहती तो उस रत्न को गाँठ में बाँध कर रख लेती। किसी ने उसे दिया नहीं था। कोई साक्षी नहा था। जिनदास कदाचित् माँगने आता तो वह मुकर सकती थी। कह सकती थी कि मारे-मारे फिर रहे थे सो मैंने ठहरने की जगह दी और मुझको ही चोर बनाने आए हो? दाने का ठिकाना नहीं, रत्न तुम्हारे पास कहाँ से आया? कौन वहाँ जिनदास का पक्ष लेने वाला था? अपरिचित परदेशी की बात कौन सच्ची मानता? मीठी मांजी सहज ही उस रत्न को हजम कर सकती थी। लेकिन उसकी अन्तरात्मा में दानव नहीं देव विराजमान था। वह जानती थी कि इस रत्न पर मेरा न्याय सगत अधिकार नहीं है। किसी की भूली हुई, रास्ते में पड़ी हुई, धरोहर रूप में धरी हुई वस्तु को अपने अधिकार मे कर लेना गृहस्थ धर्म के प्रतिकूल है। न्याय-नीति से उपार्जित धन ही गृहस्थ के लिए उपादेय होता है। अनीति के धन को धर्मज्ञ गृहस्थ विष से भी अधिक भयकर समझता है।

मीठी मांजी को रत्न दिखाई दिया तो उसे समझने में देर नहीं लगी कि यह रत्न जिनदास का है। भूल से यहाँ रह गया

है। उसने जिनदास के लौटने की प्रतीक्षा नहीं की। यह नहीं सोचा कि लौट कर आएगा और मांगेगा तो दे दूंगी। माजी को एक-एक पल भारी लगा। हाथ का झाडू एक कोने मे रखकर और मकान के किवाड ज्यो के त्यो बन्द करके वह उसी रास्ते दौडी, जिस रास्ते से जिनदास गए थे। वह जिनदास को पुकारती हुई जा रही थी।

जिनदास आवाज सुनकर चौंक उठे। पीछे मुडकर देखा तो मीठी मांजी भागती आती दिखाई दी। उसे आती देख वह कहने लगे—अरे, माजी क्यो भाग कर आ रही है? जान पडता है, इसका कुछ खो गया है। ऐसा न हो कि चोरी का कलक माथे चढे। लेकिन हमने कुछ लिया नहो है तो डर काहे का? देखें, क्या गुल खिलते है।

जिनदास वही ठिठक रहे। इतने मे बुढिया निकट आ गई। आते ही वह बोली—धर्मी भाई, तुम मेरे घर कुछ भूल आये हो? अपना माल जरा सँभाल देखो तो।

जिनदास ने आश्चर्यान्वित होकर कहा—माजी तुमने वृथा कष्ट उठाया है। हमारे पास भूलने योग्य कुछ है ही नहीं।

वृद्धा ने रत्न निकाल कर दिखलाया और कहा—यह मुझे वहीं मिला है, जहाँ तुम ठहरे थे। अवश्य ही यह तुम्हारा है। मेरे घर मे ऐसा रत्न कहाँ?

उसी समय सुगुणी ने अपनी गांठ सँभाली जिसमें दो सौ सोलह ककर बधे थे। उसे देख कर अत्याश्चर्य हुआ कि ककर सब जगमग-जगमग करते रत्न हो गए हैं। उसने अपने पति को

इसके बाद दम्पती ने परामर्श करके कहा—माँजी जब यह रत्न तुम्हारे पास पहुंच गया है तो अपने पास ही रहने दो। हमे इसकी आवश्यकता नही है।

मांजी चकित खडी थी। वह अत्यधिक प्रसन्न हो गई। तब जिनदास ने पूछा—मांजी, पोलासपुर के लिए भाडे पर कोई गाडी मिल सकेगी ?

माँजी—भई, क्यो जल्दी करते हो ? हमारे घर पर ही क्यो नही ठहरते ? जो चाहिए, वही मिल जाएगा।

जिनदास ने विचार किया—अब पारणा करके आगे चलना ही उचित है। इससे मांजी का भी मन राजी हो जायगा। सुगुणी मे भी चेतना आ जायगी।

जिनदास और सुगुणी दोनो वापिस लौट चले और मांजी के घर आ गये। माजी का कलेजा शान्त हो गया। सुगुणी ने पारणा की सामग्री मँगवाई। मांजी ने उसके कथनानुसार सब सामग्री उपस्थित कर दी। सुगुणी ने अपने हाथ से आहार तैयार किया। सुगुणी ने पहले जिनदास को पारणा कराया और फिर स्वय पारणा किया।



दिखला कर कहा—स्वामिन ! देखिए, धर्म का प्रभाव। कंकर किस प्रकार रत्न के रूप में परिवर्तित हो गए हैं।

जिनदास यह चमत्कार देख कर अत्यन्त विस्मित रह गए। उन्होंने मन ही मन कहा —

धर्माज्जन्म कुले कलङ्कविकले, जाति सुधर्मात्परा,
धर्मादायुरखण्डित गुरुवल धर्माच्च नीरोगता।
धर्माद्वित्तमनिन्दित निरुपमा भोगा सुकीर्ति सुधी,
धर्मादेव च देहिना प्रभवत स्वर्गापवर्गावपि ॥

अर्थात्—धर्म के प्रताप से कलंकहीन कुल में और उत्तम जाति में जन्म होता है, धर्मात्मा जीव को धार्मिक और उत्तम सस्कारवाले मातृपितृपक्ष की प्राप्ति होती है। धर्म से बीच में खंडित न होने वाली आयु मिलती है। प्रचुर बल की तथा आरोग्य की प्राप्ति होती है। धर्म के प्रभाव से प्रचुर धन, अनुपम भोग और सुयश मिलते हैं। अधिक क्या कहे, धर्म के प्रसाद से ही जीव स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के अधिकारी होते हैं।

गाढे से गाढे अवसर पर भी धर्म के पथ पर चलने वाले और प्राणों पर संकट आ जाने पर भी अधर्म का आश्रय न लेने वाले महान् पुरुषों के जीवन में ही ऐसे चमत्कार घटित होते हैं। पाई-पाई और पैसे-पैसे के लिए अधर्म करने वाले लोग धर्म के महत्व को नहीं समझ सकते।

सुगुणी ने उन रत्नों को गिना तो दो सौ पन्द्रह निकले। तब वह वृद्धा से बोली—माँजी, तुम्हारा कहना ठीक है। यह रत्न हमारा ही है। भूल से वहीं पर रह गया था।

दुनिया के बाजार मे, चल कर आया एक।
मिले बहुत पर अन्त मे रहा एक का एक ॥

जीव अकेला आता है। पर बहुतो को अपना मान लेता है। पर उसकी मान्यता कल्पना है, भ्रान्ति है, मोह का विलास है। उसमे सचाई नही होती। इसी कारण एक दिन उसके 'अपने' छूट जाते हैं। वह अकेले का अकेला ही रह जाता है। यह अकेलापन वरदान भी सिद्ध हो सकता है और अभिशाप भी। ज्ञानियो के लिए एकाकीपन वरदान है, अज्ञानियो के लिए अभिशाप है। ज्ञानी एकाकीपन को परमार्थ के चिन्तन मे लगाते हैं और अज्ञानी हाय-हाय करके आत्मा के अहित मे। एक ही प्रकार की परिस्थिति विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियो के लिए विभिन्न परिणाम उत्पन्न करती है। इसका मूल कारण ज्ञान और अज्ञान है। फलितार्थ यह हुआ कि ज्ञानी पुरुष प्रत्येक परिस्थिति से लाभ उठा सकता है और अज्ञानी प्रत्येक परिस्थिति से हानि ही उठाता है।

परिस्थितियों को पलटने देना अथवा न पलटने देना किसी के वश की बात नही है। परन्तु उनसे लाभ उठा लेना अवश्य हमारे हाथ मे है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त करे। सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाना एक ऐसे साधन का प्राप्त हो जाना है, जो मनुष्य को हर हालत मे सुखी बनाए रहता है और दुनिया जिसे बुरी से बुरी हालत कहती है, उसमे भी दुखी नहीं होने देता। माजी, तुम अपने एकाकीपन को ज्ञान के साधन से वरदान बनाने का प्रयत्न करो।

वृद्धा-भैया, पर इतना ज्ञान लाऊँ कहाँ से ? इसी से तो

१६

पुण्य-परिपाक

उस दिन जिनदास और सुगुणी ने वहीं विश्राम किया उनका चित्त स्वस्थ हो गया और दु:खमय अवस्था का अन्त आ गया। दोनों आराम कर रहे थे कि वृद्धा भी वहाँ पहुची। वह अपनी बीती सुनाने लगी। कहने लगी—पहले मेरा घर ऐसा वीरान नहीं था। बहुत धन था और बड़ा परिवार था। मेरे चार पुत्र थे और घर के स्वामी थे। वे सब एक-एक करके चल बसे। मैं ही अभागिनी अकेली बच रही हू। डालियाँ कट जाने पर जैसे वृक्ष का ठूँठ खडा रह जाता है, वैसी ही मैं रह गई हूं। मेरा बुढ़ापा आ गया है। यह शरीर थक गया है। काम-धाम कुछ होता नहीं। प्रथम तो काम ही ज्यादा नहीं रह गया है, जो है वह भी भार रूप प्रतीत होता है। बेटा, घर मे जो सम्पत्ति है, मेरे सौ वर्ष पूरे होने के बाद, उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं है। क्या ही अच्छा हो, तुम्हीं इसके स्वामी बन जाओ और मुझे मुक्ति दो।

जिनदास को बुढिया का आत्म-वृत्तान्त सुनकर दया आई। वह कहने लगे—वास्तव मे संसार ऐसा ही है।

मकान खोजते बाजार मे पहुचे। सयोग की बात है कि उसी समय वहां के सेठ की विशाल हवेली नीलाम हो रही थी। सेठ का नाम धनेन्द्र था और वह वहां के धनाढ्यो मे अग्रगण्य था। किन्तु अशुभ कर्मों का उदय आने से उसका दिवाला निकल गया। इसी कारण हवेली और उसमे का माल नीलाम पर चढ़ा हुआ था।

संसार का यही हाल है। धन को लोग अपना सब से बड़ा आधार समझते हैं, परन्तु वह अकस्मात ही धोखा देकर चला जाता है।

सञ्चित सञ्चित द्रव्य, नष्ट तव पुन पुन ।
कदाचिन्मोक्ष्यसे मूढ ! धनेहा धनकामुक !

ज्ञानी जन अज्ञानियों की धनलोलुपता को देखकर उपालंभ देते हुए कहते हैं—अरे धन के लालची ! मूढ नर ! तू ने अनादि काल से लेकर अब तक न जाने कितनी बार धन का सचय किया, किन्तु वह तेरे पास नही रहा। तू सचय करता है, वह चला जाता है। बार-बार खिलवाड़ करता है। यह सब अपनी आँखो से देख कर भी तू धन की कामना कब परित्याग करेगा ? कब निस्पृह होकर विचरेगा ? मनुष्य को एक बार ही ठोकर खाकर सँभल जाना चाहिए। जो बार-बार ठोकरे खाता है, फिर भी सावधान नही होता और आँखे बन्द करके उसी मार्ग पर चलता जा रहा है, उसे मूढ नहीं कहा जाय तो क्या कहा जाय ?

हाँ, तो जिनदास उस हवेली के पास खडे हो गए। उन्होने सोचा—नयी हवेली बनवाने में बड़ा आरम्भ-समारम्भ होता है। पट्काय के जीवो की हिसा होती है। बनी-बनाई मिल जाय तो सहज ही इस पाप से बचाव हो सकता है।

कहती हूँ कि तुम यहीं रह जाते तो मेरा भी उद्धार हो जाता।

जिनदास—मेरा मन इस खेड़े में नहीं लगता। तुम चाहो तो हमारे साथ चल सकती हो। हम दोनों तुम्हारी सेवा करेंगे। पोलासपुर यहाँ से दूर भी नहीं है। इच्छा हो तब घर जाया करना।

वृद्धा—बेटा, इस बुढ़ापे में यह घर छोड़ने को जी नहीं चाहता। इस घर में जिंदगी बिताई है। अनेक मधुर स्मृतियाँ यहाँ सुरक्षित हैं। इसे छोड़ कर स्वर्ग में जाने का भी मन नहीं होता। लेकिन एक बात मानो तो कहूँ ?

जिनदास—मैं समझता हूं, न मानने योग्य बात तुम कहोगी ही नहीं।

वृद्धा—मैं यह कहना चाहती हूं कि जब अवसर मिले तो मेरी सार-सँभाल ले लिया करना।

जिनदास—अवश्य, अवश्य !

दूसरे दिन जिनदास गाड़ी भाड़े से लेकर रवाना होने को तैयार हो गए। वृद्धा ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से उन्हें विदाई दी। दोनों ने वृद्धा को प्रणाम करके प्रस्थान कर दिया।

× × × ×

जिनदास अपनी पत्नी के साथ पोलासपुर आ पहुँचे उनके पास द्रव्य की कमी नहीं थी। फिर भी रहने योग्य ठौर की आवश्यकता थी। वह इधर-उधर घूमते-फिरते और अपने योग्य

पर अधिकार कर लिया। राजमंत्री ने नवागन्तुक परदेशी सेठ के पास इतना बहुत द्रव्य देख कर आश्चर्य किया। जिनदास ने सब सामग्री के साथ हवेली ले ली। हवेली पांच खण्ड की थी और अच्छी जगह पर स्थित थी। उसमे सब प्रकार की सुखसामग्री विद्यमान थी। जिनदास को जरा भी परेशानी न हुई। कोई सामग्री खरीद कर नही लानी पडी। उन्होने सुगुणी के साथ उस हवेली मे ऐसे प्रवेश किया, जैसे पहले बने हुए अपने ही मकान मे कोई प्रवेश करता है।

गद्दी मसनद आदि लगे हुए थे। जिनदास जाकर वहाँ बैठ गए। उन्होने धनेन्द्र सेठ के यहाँ कार्य करने वाले मुनीमो को फिर रख लिया। जहाँ तक बन पडा, पहले वाले नौकर-चाकर भी रख लिए मगर उन्हे नियुक्त करते समय सवाया वेतन देने का वचन दिया।

प्राय' देखा जाता है कि धनवान् लोग ऐसे अवसर पर कस लगाया करते है। वे नियुक्त होने वाले की परिस्थिति से लाभ उठाने का पूरा पूरा प्रयत्न करते हैं। अपने आश्रित जनो से अधिक से अधिक काम लेना और कम से कम दाम देना चाहते है। किन्तु यह नीति धर्म से संगत नहीं है। श्रावक को सदैव यह विवेक रखना चाहिए कि किसी भी कर्मचारी से, उसकी शक्ति से अधिक काम न लिया जाय। अधिक काम लेना हिसा है। प्रभु ने उसे 'अतिभारारोपण' नामक अतिचार कहा है। इसी प्रकार पर्याप्त काम लेकर उसका यथोचित पारिश्रमिक न देना भी अधर्म है। यह अधर्म स्तेय अर्थात चोरी के अन्तर्गत है।

जिनदास ने अगर कुछ परिवर्तन किया तो यही कि दुकान

यद्यपि गृहस्थ आरम्भजा हिंसा का त्यागी नहीं होता। इस हिंसा का त्याग उससे निभ नहीं सकता। तथापि विवेक-शील श्रावक अहिंसा का आराधक होता है और यथासम्भव अधिक से अधिक अहिंसा का पालन करने का ही प्रयत्न करता है। वह आरंभजा हिंसा को भी त्याज्य ही मानता है। अतएव निरर्थक आरभजा हिंसा से जितना बचना संभव है, उतना बचने का प्रयत्न करता रहता है। जिनदास इस तथ्य को भली-भांति जानते थे। उन्होंने विचार किया—जब हिंसा से बचा जा सकता है और मेरा कोई काम नहीं रुकता तो उससे बचना ही चाहिए। यह तैयार हवेली लेकर अपना काम चला लेना चाहिए।

यह सोच कर जिनदास ने नीलाम करने वाले राज कर्म-चारी से पूछा—महाशय, इसका मूल्य क्या है?

राजकर्मचारी ने सिर से पॉव तक जिनदास को देखा। फिर कहा—आठ करोड इसकी कीमत है। जो राज्य को आठ करोड़ देगा वह इस हवेली का और हवेली मे जो माल है उस सब का मालिक होगा।

जिनदास—ठीक है। मैं इसे खरीदता हूँ। मूल्य किसे देना है?

राजकर्मचारी—राज्य के प्रधान के पास चलिए। कीमत चुका दीजिए और पट्टा लिखा लीजिए।

जिनदास प्रधान सचिव के पास पहुंचे। उन्होंने अपने पास के आठ रत्न निकाले और हवेली का पट्टा लिखवा कर उस

में खूब उदारता आ गई थी। वे जानते थे कि त्याग और दान से मनुष्य घाटे में कदापि नहीं रह सकता। अगर भाग्य मे लक्ष्मी है तो दान देने पर भी वह आये बिना नहीं रहेगी। और यदि भाग्य मे नहीं होगी तो दान न देने पर भी किसी प्रकार चली जाएगी। लक्ष्मी के जाने के सैकडो मार्ग है। यही नहीं, अगर लक्ष्मी स्थिर हो सकती है तो दान के प्रभाव से ही हो सकती है। दान एव त्याग लक्ष्मी को कस कर बाँध रखने के लिए हथकड़ी बेड़ी है। लक्ष्मी की वास्तविक रक्षा दान देने से ही होती है —

उपार्जिताना वित्ताना, त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसस्थाना, परीवाह इवाम्भसाम् ॥

उपार्जित किये हुए धन की रक्षा उसका त्याग करना ही है। जो लक्ष्मी संचित तो कर ली जाती है, परन्तु उसका सत्कार्य में व्यय नहीं किया जाता वह पोखर में भरे पानी की तरह बेकार हो जाती है इसी कारण भगवान् ने धर्म का वर्गीकरण करते समय दान को प्रथम स्थान दिया है। दान से लौकिक और लोकोत्तर दोनो प्रकार के लाभ होते हैं। यथा —

दानेन भूतानि वशीभवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानै-
र्दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥

अर्थात्—दान के प्रभाव से समस्त प्राणी वशवर्ती बन जाते हैं। दान वैरभाव को भी नष्ट कर देता है। दान के प्रताप

का नाम बदल दिया। शेष सब ज्यों का त्यों रहने दिया। वे धर्म और नीति के अनुकूल व्यवसाय करने लगे।

हवेली में पहुंचते ही उन्होंने पता लगवा लिया था कि यहाँ कोइ सन्त महात्मा विराजमान है। अतएव वह सुगुणी के साथ उनके दर्शन करने गये। धर्मोपदेश सुना। बाद मे आकर भोजन किया। इसी प्रकार उनकी सारी व्यवस्था ठीक हो गइ।

जिनदास किस स्थिति मे घर त्याग कर रवाना हुए थे, किस स्थिति में उन्होंने रास्ता तय किया था और आज अचानक किस स्थिति मे आ पहुँचे? इस प्रश्न पर विचार करने से पुण्य का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। वास्तव में पुण्य के प्रभाव से ही जीवो को इच्छित पदार्थ और सुख की प्राप्ति होती है। अतएव पुण्य का उपार्जन करना उचित है। पुण्य उपार्जन सत्कृत्य से होता है, ऐसा समझ कर ज्ञानवान् धर्म का आचरण करते है।

धर्म का आचरण करते हुए और न्याय-नीति के अनुकूल ससार-व्यवहार चलाते हुए जिनदास और सुगुणी सुख पूर्वक कालयापन करने लगे। वे अपने धर्म की रक्षा के लिए तथा स्व-पर के चित्त की शान्ति के लिए सब कुछ छोड़ कर आये थे, किन्तु उन्हे यहाँ भी सभी कुछ प्राप्त हो गया। यही नहीं, उन्होंने जितना त्यागा था, उससे भी कइ गुना आज उन्हे प्राप्त था। त्याग की यह महिमा थी। त्याग की महिमा को जो अपने जीवन मे स्वय अनुभव कर पाते हैं, वे और भी अधिक त्यागी एव दानी बन जाते हैं। इस कथन के अनुसार श्रावक-शिरोमणि जिनदास और श्राविकारत्न सुगुणी के हृदय

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौच विधत्ते-
पीयूषेण, प्रवरकरिणं वाहयत्यैन्धभारम् ।
चिन्तारत्न विकिरति करात् वायसोड्डायनार्थं,
यो दुष्प्राप्य गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्त ॥

सोने के थाल मे धूल भरने वाला मूर्ख गिना जाता है, अमृत से पैर धोने वाला नादान माना जाता है, ऐरावत के समान उत्तम गजराज पर ईंधन लादने वाला नासमझ समझा जाता है, कौवों को उड़ाने के लिए चिन्तामणि रत्न फैकने वाला बहुत बडा मूर्ख माना जाता है, किन्तु जो प्रमादी पुरुष इन्द्रियों के विषय-भोग भोगने मे इस दुर्लभ मानव-भव को गँवा देता है, वह इन सब से भी बढ़ कर मूर्ख है ।

भद्र जीवो ! मानवजन्म की सार्थकता प्राप्त करने के लिए धर्म की आराधना करना आवश्यक है, परन्तु धर्माराधना करने से पहले सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है । सम्यग्दर्शन मोक्ष-मार्ग मे पहला कदम है । इसके अभाव में ज्ञान और चारित्र सम्यक् नहीं होते । सम्यग्दशन का अर्थ है—शुद्ध श्रद्धा । जिनप्रणीत तत्त्वों पर प्रगाढ़ आस्था होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए जीव को पाँच लब्धियाँ करनी पडती हैं । वे यह हैं—(१) क्षयोपशम-लब्धि (२) विशुद्धि-लब्धि (३) देशना-लब्धि (४) प्रयोग-लब्धि और (५) करण लब्धि । आठों कर्मों का अनुभाग (रस) समय-समय पर घटा हुआ उदय मे आना क्षयोपशम-लब्धि है । फिर सातावेदनीय का प्रकट होना और धर्मानुराग जगाना विशुद्धि-लब्धि है । तत्पश्चात् जीवादि तत्त्वो का बोध प्राप्त करना और आचार्य आदि का

निकृष्टतम अवस्था में पड़े हैं और वहाँ एक श्वास जितने काल में अठारह बार जन्म-मरण का दुःख उठा रहे हैं।

अनन्त-अनन्त पुण्य का उदय होने पर त्रसपर्याय मिलती है। इसी तरह द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय होना, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय होना, चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय होना अनन्त पुण्य का फल समझना चाहिए। मगर पंचेन्द्रिय होकर भी मनुष्य गति मिल जाना बड़ा कठिन है। मनुष्य भी हो गए, किन्तु अनार्य क्षेत्र में, अनार्य जाति में या अनार्य कुल में उत्पन्न हुए तो मनुष्य भव पाना न पाने के समान ही हो जाता है। उस स्थिति में धर्म की साधना करने का सुयोग नहीं मिलता। धर्म का सुयोग वही पुण्यवन्त पाते हैं जो आर्य जाति में, धर्मसंस्कार से सम्पन्न कुल में जन्म लेते हैं। सौभाग्य समझो आप अपना कि आज आपको धर्म-साधना की समग्र सामग्री प्राप्त है।

भव्य जनो! आपको उदार पुद्गलों से बना हुआ औदारिक शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीर को पाकर तथा अन्य समस्त अनुकूल संयोग पाकर आपको धर्म की आराधना करनी चाहिए। जो यह संयोग पाकर धर्म का आचरण नहीं करता, वह अपना मनुष्यजीवन व्यर्थ गँवा देता है। उसका जीवन पशु के जीवन से भी गया-बीता होता है। उसने अपनी जननी को व्यर्थ ही अपने जन्म से कष्ट पहुंचाया है। वस्तुतः मानव-जीवन की चरम सफलता आत्मा का शाश्वत कल्याण करने में ही है और आत्मकल्याण का एक मात्र साधन धर्म है अतः प्रत्येक विवेकशील मनुष्य को धर्म के पथ पर ही चलना चाहिए। क्योंकि कहा है —

मिश्रदर्शन मोहनीय कर्म के उदय से जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या रहती है, उस समय को उसकी स्थिति सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाती है। इस गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नही रहता, अतः कुछ शुद्धता रहती है, किन्तु मिथ्यात्व का उदय होने से अशुद्धता भी रहती है। इस कारण तीसरे गुणस्थान में मिले-जुले परिणाम होते है।

सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर भी जब चारित्रमोहनीय कर्म की अप्रत्याख्यानावरण प्रकृति का उदय रहता है, तब चौथा गुणस्थान होता है और जब अप्रत्याख्यानावरण का नाश हो जाता है और प्रत्यख्यानावरण का उदय रहता है, तब देशविरति नामक पॉचवॉ गुणस्थान होता है। यह गुणस्थान श्रावक की भूमिका है। श्रावक की विरति अनेक प्रकार की होती है, किन्तु सभी श्रावक इसी मे होते हैं। श्रावक मे सम्यक्त्व का होना तो अनिवार्य है ही, एकदेशविरति भी होती है। उसकी श्रद्धा विशुद्ध हो जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव सच्चे देव, गुरु और धर्म को ही देव, गुरु और धर्म समझता है। कहा भी है—

या देवे देवताबुद्धि र्गुरौ च गुरुतामति ।
धर्मे च धर्म धी शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥

अर्थात्—सुदेव को देव समझना, सुगुरु को गुरु समझना और सद्धर्म को धर्म समझना सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्व को प्राप्त करते ही जीव को मिथ्यात्व से होने वाला आस्रव रुक जाता है। जितने अशो मे वह विरति को धारण करता है, उतने अशों मे अविरतिजनित आस्रव भी रुक जाता है। और जितनी मात्रा मे आस्रव रुकता है, उतनी मात्रा

वखान करना रूप देशना-लब्धि प्राप्त होती है। इसके बाद आत्मा मे जब विशुद्धता होती है और सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति की हानि होती है, तब जीव को प्रयोग-लब्धि की प्राप्ति होती है। यह चार लब्धियाँ भव्यजीव भी पाता है और अभव्य-जीव भी पा लेता है। लेकिन पाँचवी करण-लब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त हो सकती है। इसके तीन भेद हैं—यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। यह तीनो करण अर्थात् आत्मा के परिणाम क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम है। जीव को जब तीनो करणों की प्राप्ति होती है, तभी उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है—और तभी चौथा गुणस्थान मिलता है।

आत्मिक गुणों के विकासक्रम की दृष्टि से देखा जाय तो पहला मिथ्यात्वनामक गुणस्थान जीव की निकृष्टतम अवस्था है। इस गुणस्थान मे जीव की दृष्टि अर्थात् समझ या श्रद्धा विपरीत होती है। जैसे धतूरा खा लेने वाले जीव को या पीलिया रोग के रोगी को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है, इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव कुदेव को सुदेव, कुगुरु को सद्गुरु और कुधर्म को सद्धर्म समझता है। यह गुणस्थान मोहनीय कर्म के उदय से होता है और मोहकर्म ही जीव की समझ को विपरीत बना देता है।

दूसरा गुणस्थान उस समय होता है, जब जीव अन्तर्मुहूर्त्त के लिए औपशमिक सम्यक्त्व पाकर पुनः चौथे गुणस्थान से गिरता है। इस गुणस्थान में जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि सम्यक्त्व का कुछ स्वाद उसमे बना रहता है।

इन चार प्रकार के धर्मों के भी अनेक प्रकार से भेद-प्रभेद किये गये है। दानधर्म के प्रधान तीन भेद है—ज्ञानदान, अभयदान और धर्मोपकरणदान। ज्ञानदान का स्वरूप एव प्रभाव इस प्रकार है—

दिन्नेण जेण जीवो विन्नाया होइ बन्धमोक्खाण।
त होइ नाणदाण, सिवसुहसपत्तिबीज तु॥
दिन्नेण जेण जीवो पुण्ण पाव च बहुविहमसेस।
सम्म वियाणमाणो, कुणइ पवित्ति निवित्ति च॥
पुण्णम्मि पवत्तन्तो, पावइ य लहु नरामरसुहाइ।
नारयतिरियदुहाण य, मुच्चइ पावाउ सुणियत्तो॥
तिरियाण य मणुआण य, असुरसुराण च होइ ज सुक्ख।
त सव्वपयत्तेण, पावइ नाणप्पभावेण॥

अर्थात्—ज्ञानदान के देने से जीव बन्ध और मोक्ष का ज्ञाता हो जाता है, अत वह मोक्ष रूपी सम्पत्ति का बीज है। ज्ञानदान जिसे दिया जाता है वह जीव पुण्य और पाप को पूरी तरह जान लेता है और उसी के अनुसार पुण्य में प्रवृति और पाप से निवृत्ति करता है। पुण्य मे प्रवृत्ति करने से मनुष्यगति और देवगति के सुखो को सरलता से प्राप्त कर लेता है और पाप से निवृत्त होने के कारण नरकगति एव तिर्यंचगति के दुःखो से बच जाता है। ससार में तिर्यञ्चो को, मनुष्यो को, असुरो को और सुरों को जो भी सुख है, वह सब ज्ञान के ही प्रभाव का फल है।

निर्मल ज्ञान के प्रभाव से ही जीव को संसार के सभी सुख प्राप्त होते हैं, परन्तु ज्ञानदान की विशेषता यह है कि उसके

में संवर होता है। पाँचवें गुणस्थान के आगे पूर्णरूपेण विरति अङ्गीकार कर लेने पर छठा प्रमत्तसंयत गुणस्थान होता है। यह समस्त आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर देने वाले, महाव्रत, समिति और गुप्ति के धारक मुनियों को प्राप्त होता है।

इसके आगे का विकास क्रम पहले दिखलाया जा चुका है, अतएव उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जो सम्यक्त्वपूर्वक एकदेश चारित्र का पालन करता है, जिसमें अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषायों का सद्भाव नहीं रह जाता और जो शास्त्रप्रदर्शित श्रावकाचार के अङ्गों का पालन करता है, वह श्रावक कहलाता है। कहा भी है —

सिद्धान्तश्रवणे श्रद्धा, विवेकव्रतपालनम्।
दानादिकरणं सेवा, ह्येतच्छ्राद्धलक्षणम्॥

अर्थात्—सर्वज्ञ-सर्वदर्शी द्वारा प्ररूपित सिद्धान्त को सुनने में श्रद्धा रखना, विवेक के साथ व्रतों का पालन करना, दान शील, तप और भावना रूप चतुर्विध धर्म का आराधन करना और सन्तों की सेवा करना श्रावक के लक्षण हैं। और भी कहा है —

धम्मो चउव्विहो दाण-सील-तव भावणामइओ।
सावय! जिणेहिं भणिओ, तियसिन्दनरिन्दनमिएहिं॥

अर्थात्—हे श्रावक! देवेन्द्रों और नरेन्द्रों द्वारा नमस्कृत जिनों ने चार प्रकार का धर्म कहा है—दान, शील, तप और भावना।

एय तु अभयदाण, तियसिन्दनरिन्दनमियचलणेहि ।
सावय ! जिएहि भणिय, दुज्जयकम्मट्ठदलणेहि ॥

अर्थात्—सब जीव अत्यन्त दुखित अवस्था मे भी जीवित रहने की ही इच्छा करते है, अतएव विवेकशील जनो को समझना चाहिए कि उन्हे जीवन ही सब से अधिक प्रिय है।

सम्राट् मृत्यु उपस्थित होने पर अपना समस्त साम्राज्य दान करके भी मृत्यु से बचने और जीवित रहने की अभिलाषा करता है। इस बात से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसे साम्राज्य और जीवन मे से जीवन ही अधिक प्रिय है।

जो बुद्धिमान् मनुष्य परलोक मे सुख पाने की इच्छा करता है, उसे अन्य प्राणियो को वही दान खूब देना चाहिए जो ग्राहक को—दान लेने वाले को—इष्ट हो। सभी ग्राहको को जीवन सब से अधिक इष्ट है, अत जीवनदान या अभयदान अवश्य देना चाहिए।

अभयदान के प्रभाव से परलोक में भी जीवो को दीर्घ आयु, सुन्दर रूप एव नीरोगता की प्राप्ति होती है और वह सब की प्रशसा का पात्र बनता है।

हे श्रावक ! देवेन्द्रो और नरेन्द्रो के द्वारा जिनके चरणो मे नमस्कार किया जाता है, जिन्होने दुर्जय आठ कर्मों को विनष्ट कर दिया है, उन जिनेन्द्र देव ने अभयदान का उपदेश दिया है।

तीसरा दान धर्मोपकरणो का दान है। इस दान की भी बड़ी महिमा है। इसके विषय में भी कहा है—

प्रभाव से जीव बिना कष्ट भोगे—सुखपूर्वक ही मोक्षसुख भी प्राप्त कर लेता है। अतएव ज्ञानदान सब दानों में श्रेष्ठ है।

इहलोयपारलोइयसुहाइ सव्वाइ तेण दिन्नाइ ।
जीवाण फुड सव्वनुभासिय देइ जो नाण ॥
गयरागदोसमोहो, सव्वन्नू होइ नाणदाणेण ।
मणुयासुरसुरमहिओ, कमेण सिद्धि च पावेइ ॥

जो मनुष्य सर्वज्ञ द्वारा भाषित ज्ञान का दान देता है, वह मानों जीवों को इस लोक और परलोक संबंधी सभी सुखों का दान देता है। ज्ञानदान के प्रभाव से जीव सर्वज्ञ बनता है, वीतराग बनता है और क्रमशः मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

दूसरा अभयदान है। अभयदान की महिमा का भी कहाँ तक वर्णन किया जाय? संसार में प्राणियों को सब से अधिक प्रिय वस्तु अपने प्राण ही हैं। प्राणों से ज्यादा प्रिय अन्य कोई वस्तु नहीं है। अतः प्राणदान देना सब से प्रिय वस्तु का दान देना है। कहा भी है—

इच्छन्ति सव्वजीवा, निब्भरदुहिया वि जीविउ जम्हा ।
तम्हा त चेव पिय, तेसिं कुसलेण विन्नेय ॥
जम्हा य नरवरिन्दो, मरणम्मि उवट्ठियम्मि रज्ज पि ।
देइ सजीवियहेउ, तम्हा त चेव इट्ठपर ॥
दायव्व च मइमया, ज इट्ठं होइ गाहगाए तु ।
त दाण परलोए, सुहमिच्छन्तेण सुविसाल ॥
दीहाऊ य सुरूवो, नीरोगो होइ अभयदाणेण ।
जम्मन्तरे वि जीवो, सयलजणसलाहणिज्जो य ॥

कमरे के भीतर जाकर उन्होने जो देखा तो चकित और विस्मित हो गये। तीनो एक दूसरे को प्रश्न-भरी निगाहो से देखने लगे। जिनदास और सुगुणी के समस्त आभूषण और वस्त्र पलग पर बिखरे पड़े थे। उनके पास जो नकदी थी, वह भी वही पडी थी। स्पष्ट जान पड़ता था कि दोनो सर्वस्व त्याग कर चले गये हैं। साथ मे कुछ नही ले गये।

एक ने कहा—ये किधर से चले गये ?

दूसरे ने खिड़की की ओर देखा तो रस्सी लटक रही थी। उसे देखते ही समझ में आ गया कि दोनो इधर से कहीं खिसक गये हैं।

इस अवसर पर कठोर से कठोर हृदय भी द्रवित हुए बिना न रहता। अपने छोटे भाई का और अनुज पत्नी का यह अपूर्व और अद्भुत त्याग पत्थर के कलेजे को भी मोम बना देने के लिए पर्याप्त था। किन्तु इन तीनों भाइयों का कलेजा न जाने किस फौलाद से भी बढ़ कर कठोर धातु से बना था कि उन्हे तनिक भी करुणा न आई। यही नहीं, अत्यन्त प्रसन्न हुए। कहने लगे-चलो, झंझट मिट गई। जिसके कारण हमे नीचा देखना पड़ता था, वह चला गया। सम्पत्ति के चार हिस्से न होकर अब तीन ही होगे। यह भी अच्छा ही हुआ।

आखिर आभूषण और नकदी लेकर तीनों पिता के पास आए। बोले-पिताजी! सहज ही पाप कट गया। लीजिए, यह सँभालिए।

सेठजी के हृदय को अचानक भारी आघात लगा। वह

देखने के पहले ही मेरी मौत हो जाती तो कितना सौभाग्य होता ! यह कपूत मुझे बेईमान समझते हैं ।

प्रकट मे उन्होंने कहा—सभी कुछ बतला देंगे । उतावल न करो । तुम जिस सुख के लिए लालायित हो रहे हो, वह शीघ्र ही पा जाओगे ! घबराते क्यो हो ! जिनदास को भी आ जाने दो ।

तीनों लडके बोले—वह महाआलसी है । उसे किसी तरह की फिक्र ही नही ! निर्लज्ज को लज्जा ही नहीं कि इतना दिन चढ़ गया है और पड़ा सो रहा है ।

सेठ—जाओ, उसे बुला लाओ ।

तीनों बडबडाते हुए जिनदास के कमरे की ओर चले । कमरे के किवाड बद देख कर उन्हें बडा गुस्सा आया । कई हलके वचन कह-कह कर आवाज लागाने लगे, परन्तु भीतर से कुछ भी उत्तर न मिला । तब एक ने कहा—बेशर्म की नींद तो देखो ? पूरा कुभकर्ण है ।

फिर तीनों मिलकर हल्ला मचाने लगे और किवाड़ भडभडाने लगे । फिर भी कोई उत्तर नहीं ।

यह हाल देखकर उन्हें कुछ सन्देह हुआ । किवाड़ो के छेद मे से देखा तो अन्दर कोई दिखाई न दिया । इधर-उधर नजर डाली तो पता चला कि सडक की तरफ की खिड़की के किवाड़ खुले है । आखिर उन्होंने कमरे के किवाड़ उघाडे और भीतर प्रवेश किया ।

कल वाली घटना सबको मालूम थी। सब जानते थे कि यह छहो प्राणी अत्यन्त दुष्ट हैं। इसी कारण उसने यह ताना मारा।

दूसरे स्वजन ने कहा—अपने किये कर्मों का फल भोगो। अब तुम छहो पूर्ण सुखी हो गए। सब विघ्न-बाधा दूर हो गई। रास्ते के कॉटे छूट गए। अब स्वर्गीय सुखो को भोग सकोगे!

तीसरा स्वजन—धर्मी जीव को घर से निकाल कर ही दम लिया! हमेशा उससे ईर्षा ही करते रहे। अन्त मे माता-पिता को भी जला-जला कर मार डाला। अभागे कहीं के!

माता-पिता की लाशे सामने पडी थीं। लोग इस प्रकार कह कर उन्हे सान्त्वना दे रहे थे। इसी से समझा जा सकता है कि उनका पाप कितना प्रभाव दिखला रहा था।



हक्के बक्के रह गये। पूछने लगे—क्यो ? क्या हुआ ? नन्हा कहाँ रह गया ?

लड़के—वे दोनों कहीं भाग गये हैं।

यह सुनते ही सेठ और सेठानी अपने शोक के वेग को सँभाल न सके। वे मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़े। होश आने पर पानी के बिना जैसे मछली तड़फती है, वैसे ही तड़फने लगे, छटपटाने लगे और थोड़ी-सी देर में ही दोनों चल बसे।

यह दशा देख कर छहों प्राणी बुरी तरह घबराये। फिर उन्होंने दोनों के गहने उतार कर दोनों लाशों को बाहर निकाला। गहने कमरे में बंद करके लोक-दिखावा करने के लिए रुदन आरम्भ किया।

रोने की आवाज सुन कर परिवार के लोग दौड़ कर आए उन्होंने एक ही साथ दो लाशें देख कर कहा—क्या हो गया अचानक ही ?

दूसरे ने कहा—जिनदास नहीं दीख रहा है ? वह कहाँ गया ?

रोते-रोते आवड ने कहा—जिनदास अपनी पत्नी के साथ रात्रि को कहीं चला गया। उसका पता नहीं। यह जान कर पिताजी और माताजी बेहोश होकर गिर पड़े और क्षण भर में प्राण त्याग कर चल बसे। अब क्या करना चाहिए ?

एक स्वजन—क्या करना चाहिए ? अरे, तुम्हें हँसना चाहिए। रोते क्यो हो ?

कुछ भी विघ्न नहीं रहा है। माता-पिता के कारज से निपट कर सम्पत्ति का बँटवारा कर लेंगे। जल्दी करने से लोग और निंदा करेंगे। यों ही सारे शहर में लोग हमें भांड रहे हैं, अलग होने में जल्दी की तो मुँह पर कालिख ही पुत जायगी। उन्होंने यह भी विचार किया कि इस समय नगर भर में हमारी बदनामी हो रही है। इस बदनामी को दूर करने का एक उपाय यह है कि ठाट के साथ माता-पिता का कारज किया जाय। लोगों के मुंह मीठे होंगे तो हमारा कलंक दूर हो जाएगा।

इस प्रकार निश्चय करके तीनों भाइयों ने खूब उदारता के साथ कारज करने का निश्चय कर लिया। दुकानदारों को माल के बडे-बडे ऑर्डर दिये गये। सब चीजे उधार खरीदी गई और बड़े भोज की तैयारी की गई। यथासमय सभी स्वजन, परिजन, स्नेही और सबंधी आमंत्रित किये गये। सब को भोजन कराया गया। 'लाहणी' दी गई।

उर्दू के दाग कवि ने कहा है।

'हजरते दाग जहा जम गये जम गये।'

कलंक एक बार लग जाता है तो लग ही जाता है, लाख प्रयत्न करने पर भी वह दूर नहीं होता। लोग माल भी खा गये और बदनामी भी करते रहे। जिसके मुँह में जो आया वही कहते रहे। यह देख कर छहों प्राणियों को बड़ी निराशा हुई। फिर भी वे सोचते थे कि नई बात नौ दिन की है। धीरे-धीरे लोग इस दुर्घटना को भूल जाएँगे और हमारी प्रतिष्ठा जैसी की तैसी हो जाएगी। उन्हें क्या पता था कि प्रतिष्ठा और कीर्ति भी पुण्य के परिणाम हैं। बिना पुण्य के किसी को न प्रतिष्ठा मिलती है न कीर्ति मिलती है।



सर्वस्व स्वाहा !

आखिर स्वजनो और नगरजनो ने मिल कर सोहन शाह और उनकी पत्नी का दाह संस्कार किया। उनके मृत्यु-कारज की तैयारी होने लगी। छहो प्राणी इसी झमेले में लग गये। उन्होने सेठजी के कमरे मे, जिसमे घर की समस्त सम्पत्ति बँटवारे के लिए एकत्र करके रक्खी थी, खूब मजबूत ताला डाल दिया था। परन्तु कहावत है—

विनाशकाले विपरीतबुद्धि'

अर्थात् जब विनाश का समय आता है तो बुद्धि उलटी हो जाती है।

यह उक्ति इन लोगों पर भी लागू हुई। उन्होने सेठजी के कमरे के द्वार पर तो ताला लगाया, पर सडक की तरफ जो खिडकी थी, उसकी ओर ध्यान नही दिया। खिडकी खुली रह गई। परिणाम यह हुआ कि एक बार रात को चोर घुस गये और घर की समस्त सम्पत्ति लेकर चले गये। इन लोगो को इस घटना का पता ही नहीं चला।

छहो प्राणी सोचने लगे—अब अलग-अलग होने में

का समाचार कहे तो किससे कहें ? कौन हमारे प्रति सहानुभूति प्रकट करेगा ? कौन हमारे ऊपर दया दिखलाएगा । जिससे अपने दुर्भाग्य की कथा कहेंगे, वही ताने मारेगा, वही हँसेगा और हमारे दु ख को बढाएगा । आज कोई हमारा नही दिखाई देता जो हमारे दु ख मे साझीदार हो !

इस प्रकार सोचकर तीनो भाई जहर का घूँट पीकर रह गए । मगर इतने मात्र से उनका निस्तार नहीं हो सकता था । उन्होंने बाजार से बहुत सा माल उधार खरीद लिया था और अधिक दिन दाम चुकाये बिना चल नहीं सकता था । दुकानदार तकाजे करने लगे । तकाजो के मारे उनका नाकों दम हो गया । मगर देने को अब क्या रखा था ? बँटवारे के उद्देश्य से सम्पूर्ण सम्पत्ति एक ही जगह एकत्र हो गई थी और वह सभी चली गई थी । अतएव चुकाएँ तो कहाँ से चुकाएँ ? ऐसी स्थिति में उन्हे ऋण भी कौन देता ?

देनदार अगर नम्र हो और नम्रता प्रदर्शित करके कुछ मुहलत माँग ले तो भी काम चल सकता है । इन तीनो भाइयो में यह गुण भी नहीं था । तीनो अकडबाज थे । अतएव जब तकाजे पर तकाजे आने लगे तो इन लोगो ने लड़ाका रुख अख्तियार किया । जो दाम मांगने आता, उसी से लड पडते । उसे मारने दौडते । असल में पापकर्म के उदय से उनकी बुद्धि मारी गई थी । अतएव उन्हें विपरीत ही विपरीत सूझता था । वास्तव में जब पापकर्म का उदय आता है तो सारी परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो जाती हैं । कहा भी है—

वन्धुर्वैरिजनायते गुणवती कान्ता च सर्पायते,
मित्र चापि खलायते गुणनिधि पत्रोऽप्यमित्रायते ।

नगर सेठ को अपनी पुत्री और जामाता के चले जाने का बहुत विषाद हुआ। फिर भी वह धर्म के ज्ञाता होने के कारण समता धारण करके रह गये।

जब तीनो भाई मृत्यु-कारज करके निवृत्त हो गए और दिखावटी शोक से भी मुक्त हो गए तो उन्हें धन के बँटवारे की चिन्ता हुई। तीनो बड़ी उमग के साथ सेठजी के कमरे पर पहुचे। जाकर कमरा खोला और जो कुछ देखा, उससे उनकी छाती धक् से रह गई ! न वहाँ पर पाई भर धन था और न मूल्यवान् वस्त्र ही थे ! देखा तो खिड़की खुली पडी थी। उन्हे समझते देर नही लगी कि इसी खिड़की के रास्ते उनका सौभाग्य हवा हो गया है !

वह सोचने लगे—हाय ! जिस धन के लिए अपने अनुज के साथ द्रोह किया, माता-पिता को बुरी तरह व्यथित करके मौत के मुँह मे पहुचाया, एक निर्दोष नारी को दुःखी किया, लोकापवाद की परवाह न की; जिस धन के लिये मनुष्यता को भी तिलांजलि दी, जिसके लिए कुटुम्ब की कीर्ति पर कालिमा पोती और सभी प्रकार के अयोग्य काम किए वही धन सहसा गायब हो गया ! पता ही नही चल पाया कि कब और कैसे चला गया !

तीनो की आँखो के आगे अंधेरा छा गया। हृदय उमड पड़ा। शरीर जैसे निस्सत्व हो गया। शोक और दुःख के प्रबल आवेग से वे बेचैन हो उठे। तन-बदन की सुध भी भूल गए।

तीनो समझ गये थे कि वे जनता की निगाह में गिर गये हैं। लोग उन्हे घृणा की दृष्टि से देखते है। अब धन चले जाने

माल मँगवा कर लोगो को खिलाया था ? जैसा किया वैसा भोगो । हम क्या करें ?

इधर घर मे कलह की आग धधकने लगी और उधर बाहर आपत्ति के पहाड़ खड़े हो गए। इस प्रकार तीनों भाई अत्यन्त दुखी हो गये । उन्हें घड़ा भर भी चैन नहीं था । किस प्रकार परिस्थिति का सामना किया जाय, यह सूझता नही था ।

लेनदारो को जब निश्चय हो गया कि इन लोगों के पास फूटी कौड़ी भी नहीं बची है और यह नागाई पर उतर आये है, तब उन्होने न्यायालय की शरण ली । राज-कर्मचारियों ने आकर जाँच-पड़ताल की और हवेली नीलाम कर दी । हवेली की जो रकम आई, वह लेनदारो ने आपस मे बाँट ली । अब यह छहों प्राणी पूरी तरह निराधार हो गए।

वे जहाँ जाते, वहीं धिक्कार के पात्र बनते थे। लोग उनकी ओर उंगली उठा कर कहते थे—अजी, यह वही हैं जिन्होने धममूर्ति जिनदास जैसे देवता को घर से बाहर निकाल दिया था और अपने माँ-बाप को मौत के मुँह में पहुंचा दिया था ! आज अपने उत्कट पापों का फल भोग रहे हैं।

कोई-कोई तो उनके सामने ही कह देते थे—इन्हे पास मे खडा मत रहने दो । इनका मुख देखना भी महापातक है । यह पापी जीव है । पापियो की सगति से भी पाप लगता है ।

इन लोगों को रहने को स्थान नही था । खाने को अन्न का दाना नही था । वस्त्र भी जीर्ण-शीर्ण हो गए थे । ऊपर से अपकीर्ति अलग हो रही थी । कही खड़े होने और किसी से बात करने मे भी उन्हे लज्जा आती है ।

श्रीखण्ड दहनायते श्रवणयो सूक्त तु शूलायते,
जाते पुण्यविपर्यये तनुभृतामर्थोऽप्यनर्थायते ॥

अर्थात्—पुण्य का क्षय होने पर और पाप का उदय होने पर प्रेमी जन भी वैरी के समान आचरण करने लगते हैं। गुणवती पत्नी भी सर्पिणी का रूप धारण कर लेती है। मित्र शत्रु बन जाते हैं। गुणों का भंडार पुत्र भी दुश्मन के समान दुःख दायी हो जाता है। शीतलता देने वाला चन्दन भी आग की नाईं जलाने लगता है। मधुर से मधुर और हितकर से हितकर बात भी कानों में कांटे के समान चुभने लगती है। अर्थ भी अनर्थ का कारण बन जाता है।

अब आवड़, जावड, और खावड प्रबलतर पाप से घिर गये थे। अतएव उनके स्नेही जन भी उनसे दूर रहते थे। उनकी परछाई से भी किनारा काटते थे। उनके मित्रों ने मुँह दिखाना बन्द कर दिया था। स्वजन भी सीधी तरह बात नहीं करते थे। इतने दिनों तक तीनों भाई एकमत्त रहे थे, पर अब उनमें भी मनोमालिन्य होने लगा था। वे खिडकी खुली रखने के लिए एक दूसरे पर दोषारोपण करते थे। पति-पत्नियों में भी पहले जैसी नहीं बन रही थी। तीनो भाई अपनी-अपनी स्त्रियों को कोसते थे और उन्हीं को इस दुर्दशा का कारण बतलाते थे। कहते थे-तुम्हीं को अलग होने की उतावल लग रही थी। अलग होने के लिए तुम्हीं ने झगड़ा खडा किया और घर बर्बाद हो गया। स्त्रियाँ उनसे हार मानने वाली नहीं थी-वह उत्तर देतीं-अपनी मूर्खता से सारी सम्पत्ति गँवा बैठे-और हमारे ऊपर ताव कसते हो? हमें लाल आँखें दिखलाते हो? क्या हमने कहा था कि कमरे कि खिड़की खुली रख देना? क्या हमारे कहने से उधार

दूसरा चोर—जो है वही ले लो, अन्यथा दोनों ही बिगड़ जाएगी।

इस प्रकार सलाह करके चोरों ने उनके कपड़े छिन लिये। कोढ़ मे खाज की कहावत चरितार्थ हुई। चोरों ने औरतों के कपड़े रहने दिये, तीनों भाइयों को उघाड़ा कर दिया। उस समय इन छहों प्राणियो के मन मे क्या-क्या विचार आए होंगे, यह जानना कठिन है।

छहो प्राणी अत्यन्त घोर दुःख से पीडित होते हुए आगे बढ़े। कुछ दूर तक चुपचाप ही चलते रहे। कोई किसी से बोला नहीं। सब मन ही मन असह्य संताप का अनुभव कर रहे थे। अपने कृत्यो के लिए पश्चात्ताप कर रहे थे। उन्हे पिताजी का स्मरण हो आया। जो पिता जीवित अवस्था में उन्हे दैत्य के रूप मे दिखलाइ देते थे, वही अब देवता मालूम होने लगे। उनकी एक-एक बात याद आने लगी। उन्होने कहा था—'जिनदास के पुण्य से सब सुख भोग रहे हो।' उस समय उनकी यह बात हमें अपमान जनक प्रतीत हुई थी। हम सोचते थे कि पिताजी पक्षपात के कारण ही ऐसा कह रहे है। क्या पता था कि उनके इस कथन मे कूट-कूट कर सत्य भरा है? उस समय हमारी आँखे अंधी हो रही थी।

जिनदास!! कितना नम्र था? उसने हमारे सामने कभी आँख उठाकर भी नही देखा। हमने उसके साथ कभी सद्व्यवहार नही किया। सदैव उससे द्वेष किया। उसे निकम्मा और आलसी समझा। परन्तु उसने हममें से किसी का अविनय नही किया। कभी मुख से एक शब्द भी अनुचित नही कहा। कितना स्नेही,

इस परिस्थिति से छहों प्राणी अत्यन्त घबरा उठे। उनके दुःखों का पार न रहा। मगर प्रश्न तो यह था कि करें तो क्या करें ? कोई उपाय भी तो नजर नहीं आ रहा था। बुद्धि काम ही नहीं करती थी। यद्यपि अब उनकी पहले वाली अकड़ हवा हो चुकी थी। वे दीनता के पुतले बन गये थे। फिर भी उन पर किसी को दया नहीं आती थी।

एक दिन छहों प्राणियों ने मिलकर सलाह की—अब इस नगर में हमारा रहना सम्भव नहीं है। यहाँ हमारी उतनी भी इज्जत नहीं है, जितनी गली-गली में भटकने वाले कुत्ते की है ! अतएव इस नगर को छोड़कर परदेश चल देने के सिवाय कोई रास्ता नहीं है। परदेश में भीख मिल सकती है, मजदूरी मिल सकती है। यहाँ न भिक्षा मिल सकती, न मजदूरी ही। यहाँ के लोगों की निगाह में हम गिर चुके हैं। अनजान जगह में चलेगे तो लोग इतनी घृणा तो नहीं करेंगे !

इस उपाय के अतिरिक्त किसी को और कोई उपाय नहीं सूझा। अतएव सर्व-सम्मति से महेन्द्रपुर छोड़ देने का निश्चय हो गया। उनके पास कोई सामान तो बचा नहीं था। शरीर पर कपड़े थे और कुछ ठीकरे सरीखे बरतन थे। रात्रि के समय उन्होंने वह उठाये और चल दिये।

वे कुछ ही दूर पहुंचे थे कि रास्ते में चोर मिल गए। उन्होंने इन्हें लूटने के इरादे से घेर लिया। पास में आकर खानातलाशी ली तो उन्हें बड़ी निराशा हुई। एक चोर बोला—अपशकुन हुआ। इन दरिद्रों के पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं। कोई लेने योग्य सामान भी नहीं।

हजारो गायें खड़ी हो और बछड़े को छोड़ दिया जाय तो वह सब को छोड़ कर अपनी माता के पास पहुंच जाता है। इसी प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्त्ता को पकड़ लेता है।

बछड़ा कदाचित् अपनी माता को भूल जाय तो भूल जाय, पर कर्म कर्त्ता को नहीं भूल सकता। वह अपना फल दिये बिना नहीं रह सकता। यह छह प्राणी अपने कर्मों का फल भोग रहे थे। इनकी दशा देख कर दूसरे लोग जो शिक्षा ले सकते हैं वह यही कि प्रत्येक कार्य करते समय उसके फल का विचार अवश्य कर लेना चाहिए। मनुष्य को सोच लेना चाहिए कि आज मै जो कार्य करने जा रहा हू, भविष्य में उसका क्या फल मिलेगा ? अगर इस विचार के पश्चात् कार्य किया जाय तो बहुत-से पापों से और तज्जन्य दुःख से छुटकारा मिल सकता है। पर प्रायः लोग ऐसा नहीं सोचते। वे प्रसन्न होकर, बेभान होकर और भविष्य की अवगणना करके कर्म कर डालते हैं, किन्तु जब उनके कटुक फल सामने आते हैं तो खेद-खिन्न होते हैं, रोते हैं और हाय-हाय करते हैं।

हसता क्रियते कर्म, रुदता परिभुज्यते।

अर्थात्—हँस हँस कर कर्मो का बन्ध किया जाता है परन्तु रो-रो कर उनका फल भोगना पड़ता है।

यह छह प्राणी अपने अशुभ कर्मों का फल भुगत रहे थे। वे एक गॉव से दूसरे गॉव में और दूसरे गाँव से तीसरे गाँव में भीख माँगते हुए भटक रहे थे। कहाँ पहुंचना है ? पहुँच कर क्या करना है ? इन प्रश्नो का उनके पास कोई उत्तर नहीं था। पेट पालना ही उनका एक मात्र उद्देश्य रह गया था।

कितना सरल, कितना सहिष्णु, कितना शान्त और कितना धर्मनिष्ट था वह ! खेद है कि उस समय हम उसे पहचान न सके।

और सुगुणी भी क्या कम थी ? सुशीलता की प्रतिमा, शान्ति की मूर्ति और सौजन्य का अवतार थी। उसने अपनी जेठानियों के हजारों ताने सहे, हजार बार अपमान सहन किया, किन्तु क्या मजाल कि उनकी ओर कभी कोई अयोग्य आचरण हुआ हो!

सम्पत्ति के प्रति उनकी कितनी निस्पृहता थी ? जिस संपदा के लिए हमने निंदनीय कुकर्म किये, उसे वे कितनी सरलता से छोड कर चले गये ! अंग पर एक अंगूठी भी नहीं रहने दी !

कौन जानता था कि जिनदास और सुगुणी के जाते ही परिवार का नक्शा बदल जाएगा। उनका घर त्याग करना हमारी विपत्ति का कारण बन गया। पर इसमें दोष हमारा ही है, उनका नहीं। हमने उन्हे मजबूर किया तब वे गये। वे गये और हमारे सुख के दिन भी चले गए।

इस प्रकार पश्चात्ताप की आग में जलते हुए वे चलते-चलते एक गाँव में पहुंचे। वहाँ अन्य उपाय न देख उन्होंने भीख माग कर किसी तरह उदरदेव की अभ्यर्थना की। ग्रामीणों के फटे-पुराने वस्त्र माँग कर अपने उघाड़े तन को ढँका। उन्होंने नौकरी पाने का प्रयत्न किया, पर सफलता न मिली। उनका अशुभ कर्म उन्हे कहीं टिकने ही नहीं देता था। सच है, कृत कर्म अपना फल दिये बिना नहीं रहते।

यथा धेनुसहस्त्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम्
तथा पूर्वकृत कर्म, कर्त्तारमनुगच्छति ॥

परन्तु सरिता के बीच मे जमी हुई चट्टान ज्यो की त्यो बनी रहती है। उसी प्रकार कर्म आते-जाते रहते हैं, परन्तु आत्मा स्थितिमान् ही बना रहता है। न जाने कितने कर्म आज तक बँधे और समय पकने पर क्षीण हो गये, फिर भी आत्मा आज भी विद्यमान है और अनन्त काल तक विद्यमान रहेगा। अतएव किसी भी आत्मा को हताश होने की आवश्यकता नहीं, शस्त्र डाल देने की जरूरत नहीं। उसे कर्मों के साथ सघर्ष करना चाहिए और ज्ञानी जनो द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण करना चाहिए।

किसी भी जीव का कोई भी कर्म, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, स्थायी नही रहता। इसी कारण जीव की नाना अवस्थाए देखी जाती है। हम आवड, जावड और खावड की स्थिति पर विचार करे तब भी यह बात समझ मे आ जाएगी। थोड़े दिन पहले वे सुख में थे, परन्तु भाग्य चक्र पलटा और वे क्या से क्या हो गए! रईस के लड़के देखते-देखते भिखारी बन गए। उनके सुख का अन्त आ गया और भीषण दु:ख ने उन्हे घेर लिया। परन्तु क्या उनका यह दु:ख सनातन होकर आया था? नहीं, सासारिक सुख का अन्त है तो दु ख का भी अन्त है। शुभ कर्म स्थायी नही रहते तो अशुभ कर्म भी नही रह सकते।

छहों प्राणियों के अशुभ कर्मों का तीव्र उदय जब तक बना रहा, वे कष्ट पाते हुए इधर-उधर भटकते रहे। जब उन कर्मों की तीव्रता मिटी तो उन्हे अकस्मात् ही पोलासपुर जाने की बुद्धि आई। पोलासपुर बड़ा नगर था। वे वहाँ पर जा पहुंचे। उन्होने सोचा—यह एक बड़ा नगर है और यहाँ टिके रहने से आजीविका अवश्य मिल जाएगी। हम लोग तीन दिन



सुगुणी की महत्ता

निस्सन्देह कर्मों की शक्ति प्रबल है, परन्तु हमें यह विस्मरण नहीं करना चाहिए कि उन्हें शक्ति देने वाला आत्मा ही है। आत्मा की प्रबल वैभाविक शक्ति ही कर्मों को शक्तिशाली बनाती है। आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता है और इसीलिए वह उनके फल का भोक्ता है। आत्मा की शक्ति कर्मों से भी बढ़ कर है। आत्मा कर्मों को अगर उपार्जन कर सकता है तो उन्हें नष्ट भी कर सकता है। आगम स्पष्ट घोषणा करता है:—

अप्पा कत्ता विकत्ता य।

आत्मा में कर्तृत्वशक्ति है और हर्तृत्वशक्ति भी है।

यही नहीं, आत्मा और कर्मों के संघर्ष में आत्मा की ही विजय होती है। कर्मों का क्षय होता है, पर आत्मा का कभी क्षय नहीं होता। कर्म अजर-अमर नहीं, आत्मा अजर-अमर है। आत्मा ने अपनी शक्ति के द्वारा कर्मों की जो काल-मर्यादा निर्माण की है अर्थात् जितनी स्थिति उत्पन्न की है, उससे एक क्षण भी ज्यादा कर्म नहीं ठहर सकते।

पानी का प्रवाह आता रहता है और जाता रहता है,

के भूखे है। आज कुछ न कुछ कमा लाएँगे और पेट मे अन्न का दाना डाल सकेंगे।

तीनो स्त्रियाँ कहने लगीं—हमारा दम टूट रहा है। हाथो-पैरो मे जरा भी ताकत नहीं रह गई है। भूख से मरी जा रही हैं। एक-एक कदम भी चलना भारी हो रहा है।

आपस में पेट भरने की बाते करते-करते छहो बाजार मे आ पहुंचे। जिनदास की विशाल हवेली देख कर पुरुषो ने स्त्रियो से कहा—तुमसे चला नही जाता तो यहीं ठहर जाओ। इस हवेली की शीतल छाया मे बैठो। हम लोग जाते हैं और खाने-पीने की व्यवस्था करते हैं। मिहनत-मजदूरी करके अथवा भीख माँग करके लाएँगे और अवश्य ही आज तुम्हे भोजन कराएँगे। हा, ध्यान रखना। हम लोग यहीं आकर भोजन करेंगे। तुम इस स्थान को छोड़ना मत। इधर-उधर चल दी तो कहाँ खोजते फिरेंगे ?

यह कह कर तीनो भाई अन्न-पानी की खोज मे चल पडे। आज तीनो स्त्रियाँ बहुत बेचैन हो रही थीं। भूख के कारण पेट पीठ से सट गया था। आँखो से ठीक दीख नहीं पड़ता था। अपने जीवन मे उन्होंने ऐसी पीडा कभी सहन नही की थी। परन्तु वे चुपचाप सब कुछ सहन करती जा रही थीं। शिकायत करतीं तो किससे करती ? क्या कह कर करती ? उन्होंने ही तो विष के बीज बोये थे। अब वही उनके फल चख रही थी। पश्चाताप की अग्नि में झुलसती हुई भी वे कुछ बोल नही सकती थी।

तीनो भाई जब चले गये तो बड़ी जेठानी ने कहा—देखो

तो कर्मों की गति ! हम क्या थी और आज क्या हो गई ? हमें किस चीज की कमी थी ? पर जो कुछ प्राप्त था, उसमे हमें सन्तोष न हुआ । हमने उस सुख को तुच्छ समझा और अपने मन से एक नये सुख की कल्पना करके उसकी कामना की । फल यह हुआ कि सभी सुख विदा हो गये । भ ी गृहस्थी बुरी तरह उजड़ गई । वास्तव मे असन्तोष, लोभ और लालच ही मनुष्य के विनाश के कारण है । इन्ही के कारण ‌ नु य दुखी होता है । सन्तोष धारण किया होता औ सब मिलजुल कर, हिल-मिल कर प्रेम से रही होती तो काहे को आज यह हालत देख ी पड़ती ।

मझली जेठानी ने कहा—बात सोलह आने सत्य है बहिन ! एक दिन सुगुणी ने कथा कह कर बतलाया था कि जिस परिवार में एकता होती है, उसमे लक्ष्मी का वास होता है । लक्ष्मी उस घर को छोड़ नहीं सकती । जब तक हमारे घर मे एकता रही, लक्ष्मी भी रही । जब से एकता छिन्न भिन्न हुई, तभी से लक्ष्मी भी रूठ गई । हम चारो ज ी प्रेम से रही होतीं तो तो आज यह दुर्दशा क्यो होती ?

तीसरी बोली—"अब पछताए होत क्या, चिड़ियाँ चुग गईं खेत ।" जो बात बीत गई सो बीत गई । अब तो हमे अपने भविष्य की चिन्ता करनी चाहिए । भूत को रोने से क्या लाभ है ?

बडी—भूत के लिए रोना सर्वथा वृथा नहीं होता । भूत काल मे भूल करक हमने जो गलती की है, उससे आगे बचने का बल पश्चाताप करने से प्राप्त होता है । जब हम किसी भूल के लिए पछताते है तो पुन उस भूल को न दोहराने का बल मिलता

है। भूतकाल की स्मृतियाँ भविष्य को सुन्दर बनाने में सहायक होती हैं। हाँ, भूतकाल की भूलों के लिए पश्चाताप किया करना और भविष्य में उनसे बचने का प्रयत्न न करना अवश्य ही वृथा होता है। सुगुणी ने भी तो एक बार ऐसा ही कहा था। जैनधर्म में प्रतिक्रमण और आलोचना करने का जो रिवाज है, उसका यही तो मतलब है।

तीसरी—ठीक है बहिन, मगर हमारे लिए तो वर्त्तमान ही बड़ा विकराल बना हुआ है। किसी प्रकार वर्त्तमान सुधरे तो भविष्य को सुधार लें।

दूसरी—हम निकम्मी बैठी हैं। हमें भी कुछ काम मिल जाता तो कितना अच्छा होता! मिहनत करके पेट भर अन्न पा लेतीं तो आगे की सोचतीं। वे न जाने कब तक लौटेंगे? कौन जाने काम मिलेगा या नहीं? कहीं खाली लौटे तो क्या होगा?

पहली—क्या होगा? अब होने को क्या शेष रहा है? जो भाग्य में लिखा होगा वही होगा। हमारे लिए एक ही रास्ता है—हमारे कर्म जिस स्थिति में रक्खें, जो भी फल दें, उसे शान्ति के साथ भोगे जाओ।

तीसरी—हा दैव! तेरी लीला अपरम्पार है! एक वह हैं जो इस हवेली में स्वर्ग के सुख भोगते हुए रहते हैं और एक हम हैं जिन्हें खड़े होने को जगह नहीं है। हमारी दशा तो आज इस हवेली के कुत्ते से भी बदतर है। मगर किसी को क्या दोष दें? सब अपने ही दोष हैं। सब अपने-अपने किये का फल भोग रहे हैं। लेकिन बहिन, अब रहा नहीं जाता। पेट में ज्वाला धधक

रही है। उसे अन्न का ईंधन न मिला तो वह मेरे शरीर को, मेरे प्राणों को ही जला कर भस्म कर देगी।

× × × ×

जिस समय जिनदास के भाइयों और भौजाइयों की यह दुर्गति हो रही थी, उसी समय जिनदास के चरणों मे असीम वैभव लोट रहा था। इसी पृथ्वी पर वह देवलोक के सुखों का उपभोग कर रहा था। कहा जा चुका है कि सुगुणी सगर्भा थी और सातवें महीने में आगरणी उत्सव की तैयारियाँ हो रही थीं। इस उत्सव के अवसर पर उसके यहाँ विशाल भोज होने वाला था। जिनदास अपने समस्त स्वधर्मी भाइयों को, ज्ञाति-जनों को और स्नेही मित्रों को आमन्त्रित करने वाला था। उस भोज के लिये विविध प्रकार की सामग्री तैयार करवाई जा रही थी।

गेहूं पिसवा कर मैदा बनवाना था, परन्तु पीसने वाली कोई नहीं मिल रही थी। सुगुणी ने दासी को भेजा कि कहीं से पीसने वाली खोज ला। दासी इधर-उधर गई, पर निराश होकर लौटी। उसने कहा—बाईजी, बहुत खोज की, आज पिसनहारी नहीं मिली। सुगुणी ने कहा—खैर, ध्यान रखना। कल तक तो आनी ही चाहिए।

इसके पश्चात् सुगुणी ने सहज ही खिड़की से बाजार की ओर दृष्टि डाली तो उसे तीन स्त्रियाँ दिखलाई दीं। सुगुणी ने अपनी दासी से कहा—देख, नीचे तीन औरतें खड़ी हैं। उनसे पूछ आ कि क्या उन्हें मजदूरी चाहिए? अगर वे मैदा पीसने को तैयार हों तो साथ लेती आना। अपना भी काम हो जायगा

है। भूतकाल की स्मृतियाँ भविष्य को सुन्दर बनाने में सहायक होती हैं। हाँ, भूतकाल की भूलों के लिए पश्चाताप किया करना और भविष्य में उनसे बचने का प्रयत्न न करना अवश्य ही वृथा होता है। सुगुणी ने भी तो एक बार ऐसा ही कहा था। जैनधर्म में प्रतिक्रमण और आलोचना करने का जो रिवाज है, उसका यही तो मतलब है।

तीसरी—ठीक है बहिन, मगर हमारे लिए तो वर्त्तमान ही बड़ा विकराल बना हुआ है। किसी प्रकार वर्त्तमान सुधरे तो भविष्य को सुधार लें।

दूसरी—हम निकम्मी बैठी हैं। हमें भी कुछ काम मिल जाता तो कितना अच्छा होता! मिहनत करके पेट भर अन्न पा लेती तो आगे की सोचती। वे न जाने कब तक लौटेंगे? कौन जाने काम मिलेगा या नहीं? कहीं खाली लौटे तो क्या होगा?

पहली—क्या होगा? अब होने को क्या शेष रहा है? जो भाग्य में लिखा होगा वही होगा। हमारे लिए एक ही रास्ता है—हमारे कर्म जिस स्थिति में रक्खें, जो भी फल दें, उसे शान्ति के साथ भोगे जाओ।

तीसरी—हा दैव! तेरी लीला अपरम्पार है! एक वह हैं जो इस हवेली में स्वर्ग के सुख भोगते हुए रहते हैं और एक हम हैं जिन्हें खड़े होने को जगह नहीं है। हमारी दशा तो आज इस हवेली के कुत्ते से भी बदतर है। मगर किसी को क्या दोष दें? सब अपने ही दोष हैं। सब अपने-अपने किये का फल भोग रहे हैं। लेकिन बहिन, अब रहा नहीं जाता। पेट में ज्वाला धधक

हैं। यह देख सुगुणी को सहसा क्रोध आ गया और क्रोध ने भी तीव्रता धारण कर ली। उसने सोचा—यह स्त्रियाँ जान-बूझ कर काम करने मे ढील कर रही है। इनके चित्त में ईमानदारी नहीं है। मनुष्य काम करे तो इमानदारी से करे, न करे तो न करे। इस प्रकार सोचते-सोचते वह आपे से बाहर हो गई। उसने बडी को पाँव से एक ठोकर लगाई और दबाव देकर कहा—इतनी देर मे इतना सा आटा पीसा है? क्या मुफ्त मे पैसा लेना चाहती हो? अधूरा काम छोड़ कर भाग जाने की इच्छा है क्या?

ठोकर खाने वाली को कितनी पीडा पहुंची, कहा नहीं जा सकता। उसके नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगी। उसका अन्त करण जल उठा अपने दुर्भाग्य पर। एक दिन वह भी कुँवरानी कहलाती थी और आज यह दुर्दशा। पीसना बन्द कर उसने अपने हृदय के असीम उद्वेग को किसी प्रकार शान्त किया। फिर अतीव नम्रता और दीनता भरे स्वर मे कहा—बाईजी, आपका क्रोध उचित है, पर हमारे मन मे बेईमानी नहीं है।

सुगुणी—तो क्या इतना ही पिसना चाहिए था?

बडी—नहीं, मगर हाथ नहीं चलते। बहुत चाहने पर भी चक्की नहीं घूमती। हमने बहुत चाहा कि जल्दी काम पूरा करें तो पेट में कुछ पड़े, परन्तु क्या करें? बाई, हम तीन दिन की भूखी हैं। धीरे-धीरे आपका काम कर देंगी। हमें अभागिनी समझ कर क्षमा कर दो।

सुगुणी को दया आ गई। तीन दिन की भूख का शरीर

और उनको भी काम मिल जायगा। जा, जल्दी जा।

दासी ने नीचे जाकर पूछा—क्या तुम्हें मजदूरी करनी है ?

बड़ी बोली—बाई, नेकी और पूछ पूछ ! हम तो इसी खोज में हैं। जो काम कहो करने को तैयार हैं। काम करेंगी और तुम्हारा एहसान मानेंगी।

दासी—तो चलो हमारे साथ !

यह कह कर दासी उन्हें ऊपर हवेली में ले आई। बरामदे में उन्हें खड़ा करके दासी सुगुणी के पास गई। बोली—तीनों मजूरिनें आ गई हैं। उन्हें गेहूं दे दूं ?

सुगुणी—हाँ, इसीलिए तो बुलवाई हैं।

दासी ने जाकर उन्हें गेहूं पीसने को दे दिये। तीनों तीन चाक्कियों पर पीसने बैठ गईं।

गेहूं गीले थे और पीसने वाली तीन दिन की भूखी थी। उनके हाथो-पैरों में शक्ति नहीं रह गई थी। उन्होंने जल्दी-जल्दी हाथ चलाने का बहुत प्रयत्न किया, पर वह चलने को तैयार न हुए। वह चाहती थीं कि शीघ्र काम समाप्त हो तो खाने की व्यवस्था हो। पर हाथ कहते थे कि पहले खाने की व्यवस्था हो तो हाथ चलें ! नतीजा यह हुआ कि काफी समय बीत जाने पर भी गेहूं बहुत थोड़े पिस सके—नहीं के बराबर !

तब देखभाल करने के लिए अचानक सुगुणी वहाँ आ पहुंची। उसे क्या पता था कि गेहूं गीले हैं और पीसने वाली तीन दिन की भूखी हैं ! उसने देखा—गेहूं नहीं के बराबर पिसे

मेरी आत्मा अभी तक अत्यन्त दुर्बल है। मै द्रव्यसामायिक ही करती हूं, भावसामायिक करने योग्य नही हो सकी। सामायिक तो जीवन-व्यापी समभाव प्राप्त करने का साधन है। दो घडी तक उस समभाव का अभ्यास किया जाता है, पर उसका प्रभाव तो जीवन के प्रत्येक व्यवहार मे होना चाहिए। जिसके अत करण मे इस प्रकार स्थायी समभाव न आया, समझना चाहिए कि वह सामायिक के वास्तविक फल से अभी तक वचित ही है। सिर्फ दो घड़ी समभाव रखना और शेष समय मे विषम भाव बर्त्तना वास्तविक धर्मनिष्ठता नही है।

प्रतिक्रमण करके प्रतिदिन मै अपनी भूलो के लिए, अपने अपकृत्य के लिए और अनुचित आचरण के लिए पश्चाताप करती हूँ। फिर कषायो पर अब तक विजय प्राप्त न कर सकी। अब भी भद्दी से भद्दी भूल कर बैठती हूँ। आज की भूल बड़ी ही चुभने वाली भूल है।

खेद है कि मैं साधारण कारण से भी क्रोध के वशीभूत हो गई। क्रोध ने मेरे विवेक को नष्ट कर दिया। सचमुच, क्रोध आत्मा का प्रबल शत्रु है। इसके वशीभूत होकर प्राणी पिशाच बन जाता है, पागल हो जाता है। यथार्थ ही कहा है —

क्रोधो मूलमनर्थाना, क्रोध ससारवर्द्धन ।
धर्मक्षयकर क्रोध-स्तस्मात्क्रोध विवर्जयेत् ।।

अर्थात—क्रोध अनर्थों की जड है, क्रोध ससार-जन्म-मरण की वृद्धि करने वाला है, क्रोध धर्म का विनाश करता है। अतएव क्रोध का परित्या कर देना ही योग्य है।

पर क्या असर होता है, यह बात उसे मालूम था। उसे अपने पुराने वह दिन याद आ गए। इस कारण और स्वभाव से दयालु होने के कारण उसका हृदय पिघल गया। उसके कोमल अन्त-करण में कोमल भावना जागृत हो उठी।

सुगुणी ने उनसे कहा—तो तुमने पहले क्यों नहीं कह दिया? इस घर मे क्या कमी है? कह दिया होता तो पहले तुम्हे भोजन मिल जाता और फिर शान्ति से काम करती। खैर चक्की छोड़ दो। पहले तृप्त होकर भोजन कर लो।

यह कह कर सुगुणी ने उसी समय दासी को आदेश दिया कि भोजन ले आओ और इन्हे प्रेम से जिमा दो।

दासी भोजन लाई। तीनों भोजन करने बैठी। सुगुणी उनके सामने पड़े हुए एक हिंडोले पर बैठ गई। पर इस समय उसका चित्त शान्त नहीं था। नवागत स्त्रियो की दशा पर विचार करके वह गम्भीर हो गई थी। तीन दिन की भूखी-प्यासी अपने घर पर आई हुई स्त्रियो को चक्की पिसवाने के लिए बिठा देना और ऊपर से ठोकर मारना ऐसी घटना थी जो सुगुणी के दिल को बेचैन बना रही थी। वह अपनी निर्दयता के लिए पछता रही थी। वह सोचती थी—खैर, इनकी भूख की बात मुझे नहीं मालूम थी, फिर भी ठोकर मारना तो उचित नहीं था। थोडा पीसने के बदले थोडे दाम दिये जा सकते थे, पर ठोकर नहीं मारी जा सकती थी। आज मैंने अत्यन्त ही अनुचित कार्य कर डाला है। धिक्कार है मेरी धर्मज्ञता को। मैं प्रतिदिन सामायिक और प्रतिक्रमण करती हू। सामायिक करके समभाव के संस्कार जीवन मे उतारना चाहती हूँ पर आज की घटना से विदित हो गया कि

ऐसा आवेश नहीं आया था। आज क्या कारण हुआ कि तुच्छ-सी बात पर मैं क्रुद्ध हो गई ! जब सर्वस्व त्याग कर, अँधेरी रात्रि में घर से निकली थी और तीन दिन तक भूखी रही थी, तब भी मेरा अन्तःकरण क्रोध से अभिभूत नहीं हुआ था। उस समय भी मेरे मन में अखण्ड शान्ति विद्यमान थी। आज मेरी क्या बड़ी हानि हो गई थी ? फिर क्या कारण था कि मैं आज क्रोधान्ध हो गई ?

सच्चा धर्मात्मा व्यक्ति अपने अन्तःकरण में उठने वाली प्रत्येक उर्मि को ध्यान से देखता रहता है और उसका विश्लेषण करता है। वह अपनी प्रत्येक भावना और क्रिया के सम्बन्ध में गम्भीर विचार करता है। सोचता है—इस भावना का कारण क्या है ? और इसका परिणाम-फल-क्या होगा ? इसके द्वारा मैंने किस नवीन कर्म का बन्ध किया है ? अगर बन्ध किया है तो शुभ कर्म का अथवा अशुभ कर्म का ? अगर बन्ध नहीं किया तो क्या संवर किया है या निर्जरा की है ? इस प्रकार अपनी अन्तरात्मा की सदैव चौकसी रखने वाला ही सच्चा साधक होता है। वही अपनी आत्मा को विशुद्ध बना सकता है।

सुगुणी में गम्भीर विवेक था। अतएव वह अपने कृत्य पर विचार करने लगी। विचार करते-करते उसे अपने स्वप्न की बात स्मरण हो आई। उसे ध्यान आया कि पैत्रिक घर में एक बार मुझे जो स्वप्न आया था और जिसका कथन करने पर जेठानियों ने तूफान मचा दिया था, वह स्वप्न आज सच्चा तो नहीं हो रहा है ? मेरी जेठानियाँ तीन थी और यह भी तीन हैं।

यह विचार आते ही सुगुणी के हृदय को प्रबल आघात

क्रोध वह अग्नि है, जो सब से पहले क्रोध करने वाले को ही जलाती है। दूसरा जले या न जले, पर क्रोध करने वाला अवश्य जलता है। क्रोध की आग में धर्म-कर्म सब कुछ भस्म हो जाता है। क्रोध से मनुष्य की सहज बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। इसी से शास्त्रकार कहते हैं कि क्रोध से अधोगति होती है। क्रोध करने वाले की विकराल मुद्रा ही यह सूचित करती है कि वह आपे से बाहर हो गया है। उसकी शान्ति नष्ट हो गई है। वह राक्षस बन गया है। क्रोधी का वर्णन ठीक ही किया गया है:—

भ्रूभङ्गभगुरमुखो विकरालरूपो,
रक्तेक्षणो दशनपीडितदन्तवासाः।
त्रास यतोऽस्ति मनुजो जननिन्द्यचेष्ट.
क्रोधेन कम्पिततनुर्भुवि राक्षसो वा॥

मनुष्य जब क्रोध के अधीन होता है तो उसकी भौंहें चढ़ जाती हैं, चेहरा विकृत हो जाता है, रूप विकराल हो जाता है, आँखें लाल-लाल हो जाती हैं, होठों को दाँतों से चबाने लगता है, बेचैन हो जाता है, उसका रंगढंग देख कर लोग निन्दा करने लगते हैं, उसका सारा शरीर काँपने लगता है। वह ऐसा दिखाई पड़ता है, मानों मनुष्य की आकृति बनाकर इस धरती पर राक्षस ही आ धमका हो!

यह सब जान-बूझ कर भी मैं आज क्रोध के आवेश में आ गई। हाय यह मेरी कितनी दुर्बलता है! मुझे इसका प्रायश्चित करना होगा!

सुगुणी आगे सोचने लगी—मुझे अपने जीवन में कभी

कारण कर्म ही हैं। व्यक्ति निमित्त मात्र है। ऐसी स्थिति में अपने कर्म के किसी भी फल के लिए दूसरे को उत्तरदायी ठहराना अनुचित है।

दूसरे को उत्तरदायी ठहराने से लाभ तो कुछ होता नहीं, हानि अवश्य ही होती है। जिसे हानिकर्त्ता, कष्टदाता, धन-अपहर्त्ता या अपमानकर्त्ता माना जाता है, उसके प्रति वैर और द्वेष का भाव उदित होता है और उससे नये सिरे से पाप-बन्ध होता है।

इस तथ्य को भलीभाँति समझने के कारण पहले जो भी घटना घटी थी, उसके लिए उसने किसी दूसरे को उत्तरदायी नहीं ठहराया था, बल्कि अपने ही कर्मों को कारण माना था। इसका परिणाम यह हुआ था कि उसे अपने जेठ या जेठानियों के लिए जरा भी द्वेष नहीं था। इस कारण जब उसे यह शंका हुई कि कहीं यह मेरी जेठानियाँ ही तो नहीं हैं, तो उसका दिल बैठ गया। पर आँखे उन्हीं पर गड़ी रहीं। सुगुणी की आँखों ने उससे कहा—अरे, सूरत तो जेठानियो जैसी ही है! बात क्या है? मैं किस भ्रम में पड़ी हूँ!

सुगुणी ने देखा—तीनों महिलाएँ धीरे-धीरे काना फूसी कर रही हैं। वे मेरी ओर देखती जा रही हैं और बातें कर रही हैं। देखना चाहिए, सत्य बात क्या है?

सुगुणी हिंडोले से उतर कर उनके पास पहुची। तीनों महिलाओं ने बातें बन्द कर दीं। वे सहम गईं। फिर भी चुपके-चुपके उनकी निगाहे सुगुणी को परखने का प्रयास करने लगीं।

लगा। उसने नवागन्तुका तीनों महिलाओं की ओर आँखें गड़ा कर देखा। इधर वह उन्हें देखती जा रही थी और उधर यह भी सोचती जाती थी कि मेरी जेठानियाँ इस दीन दशा में क्यों होगी? उनके यहाँ किस चीज की कमी थी? सब बैठे-बैठे खाएँगे तो भी जिंदगी भर के लिए काफी है!

सुगुणी नहीं चाहती थी कि इस गिरी अवस्था में वह अपनी जेठानियों को देखे। पिछली घटना की लेश-मात्र भी कटुकता उसके हृदय में नहीं थी। वह तत्त्व को जानती थी। उसने सोच लिया था कि —

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

जीव ने पहले जिन कर्मों का बन्ध किया है, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल वह भोगता है। अगर दूसरे के द्वारा दिये हुए फल को भोगे तो उसके अपने किये कर्म निरर्थक हो जाएँ।

वास्तविक बात यही है। बहिरात्मा जीव मानता है कि-अमुक आदमी ने मुझे यह कष्ट पहुंचाया है, अमुक ने मेरी यह हानि की है, अमुक ने मेरा अपमान किया है, अमुक ने मेरा धन हरण कर लिया है, अमुक ने मेरा यह काम बिगाड़ दिया है। परन्तु यह विचार मूल से ही भ्रान्तिपूर्ण है। ऐसा कभी हो नहीं सकता। कोई किसी के कर्म को बदल नहीं सकता। सब जीव अपने-अपने कर्मों का ही फल भोगते हैं। अन्तरंग और प्रधान

चल दी। हमारे देवर भी साथ चले गये। वे तो घर में से एक कौडी भी नहीं ले गये थे पर हम अभागिनियाँ थीं। उनके चले जाने के बाद सारा धन चला गया। मकान भी चला गया। पेट भरने के लाले पड गये और आज जो दशा है, उसे आप देख ही रही हैं। उनके वियोग में सास-ससुर भी परलोक सिधार गये।

यह वृत्तान्त सुन कर सुगुणा के नेत्रों में आंसुओं की धारा बहने लगी। मुँह से शब्द न निकला।

सुगुणा की यह दशा देख कर तीनों को निश्चय हो गया कि यही सेठानी हमारी देवरानी है।

सुगुणा उसी समय अपनी जेठानियों के पैरों में गिर पडी। जेठानियों ने उसे छाती से लगा लिया और अपने आँसुओं से नहला दिया।

तत्पश्चात किञ्चित स्वस्थ होकर उन्होंने कहा—बाई, हम हत-भागिनियों को क्षमा कर देना। हमने तुम्हें बहुत दुःख दिया है। तुम दोनों भाग्यवान हो। तुम्हारे लिये कहीं भी कमी नहीं है। पग-पग पर निधान है। तुम्हें जो स्वप्न आया था, आज वह साक्षात् सत्य के रूप में सामने आ गया।

सुगुणा—अनजान में मुझसे जो अविनय हो गया है, उसके लिए मैं लज्जित हूँ। मेरा अपराध क्षमा कीजिए। भवितव्य प्रबल है। वह टाले नहीं टलता। मैं स्वप्न की बात भूल ही गई थी: वह बाद में याद आई। मेरी लज्जा का पार नहीं है। यह जो सम्पत्ति प्राप्त हुई है, सब आपका ही प्रसाद है। भला-बुरा

सुगुणी ने समीप जाकर कहा—मुझे देख-देख कर क्या बातें करती थी ? जो मन मे हो, सच-सच कह दो।

तीनों लज्जित होकर मौन रह गईं। किसी के मुख से कोई शब्द न निकला। उन्हे मन की बात कहने का साहस न हुआ।

सुगुणी ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—भय न करो। जो कहना हो, कहो।

इस प्रकार आश्वासन पाकर बडी जेठानी ने अत्यन्त नम्रता के साथ आँखो मे आँसू भर कर कहा—बाईजी, हमें अपने पिछले दिनो की एक स्मृति आ गई थी। उसी के विषय में बाते कर रही थीं।

सुगुणी—परन्तु वही तो पूछती हूँ। क्या स्मृति आ गई थी ?

महिला—बुरा न माने तो कहूँ।

सुगुणी—मैं स्वयं कहलवा रही हूं। बुरा क्यो मानूँगी ?

महिला—बिलकुल आप जैसी मेरी एक देवरानी थी। बडी भाग्यवती थी।

सुगुणी—अब वह कहाँ है ?

महिला—बस, यही न पूछिए।

सुगुणी—क्यों ? निस्संकोच होकर कह डालो।

महिला—वह हम पापिनियों के दुःख से घर छोड़ कर

चल दी। हमारे देवर भी साथ चले गये। वे तो घर में से एक कौडी भी नही ले गये थे, पर हम अभागिनियाँ थीं। उनके चले जाने के बाद सारा धन चला गया। मकान भी चला गया। पेट भरने के लाले पड गये और आज जो दशा है, उसे आप देख ही रहा हैं। उनके वियोग मे सास-ससुर भी परलोक सिधार गये।

यह वृत्तान्त सुन कर सुगुणा के नेत्रो से आसुओं की धारा बहने लगी। मुँह से शब्द न निकला।

सुगुणी की यह दशा देख कर तीनो को निश्चय हो गया कि यही सेठानी हमारी देवरानी है।

सुगुणा उसी समय अपनी जेठानियो के पैरो मे गिर पडी। जेठानियो ने उसे छाती से लगा लिया और अपने आँसुओ से नहला दिया।

तत्पश्चात किंचित स्वस्थ होकर उन्होने कहा—बाई, हम हत-भागिनियों को क्षमा कर देना। हमने तुम्हे बहुत दुःख दिया है। तुम दोनो भाग्यवान् हो। तुम्हारे लिये कहीं भी कमी नही है। पग-पग पर निधान हैं। तुम्हे जो स्वप्न आया था, आज वह साक्षात सत्य के रूप मे सामने आ गया।

सुगुणा—अनजान मे मुझसे जो अविनय हो गया है, उसके लिए मैं लज्जित हूँ। मेरा अपराध क्षमा कीजिए। भवितव्य प्रबल है। वह टाले नहीं टलता। मै स्वप्न की बात भूल ही गई थी . यह बाद में याद आई। मेरी लज्जा का पार नहीं है। यह जो सम्पत्ति प्राप्त हुई है, सब आपका ही प्रसाद है। भला-बुरा

जो होता है, सब अपने ही कर्मोदय से होता है। उसके लिए किसी को दोष देना वृथा है। मेरे दिल में कोई रंज नहीं है। आप मेरी ओर से निश्चिन्त रहें। हाँ सासूजी और श्वसुरजी के वियोग का सवाद सुन कर अवश्य ही मेरा हृदय फटा जा रहा है। किन्तु जो होना था सो हो गया। अब चिंता करने से, रोने से, छाती और माथा पीटने से भी वे आ नही सकते। उनकी वरद छत्र-छाया हमारा सौभाग्य थी।

× × × ×

अहा! इस प्रसग पर हमें सुगुणी की वास्तविक महत्ता देखने को मिलती है। उसका हृदय कितना उदार है! उसका मन कितना महान् है! धर्म का आचरण मनुष्य को कितनी उच्चता पर प्रतिष्ठित कर देता है। उसने मुनियों का उपदेश सुना था, शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। इसी कारण उसकी आत्मा ऊंची उठ गई थी। सुगुणी के बदले कोई साधारण स्त्री होती तो इस अवसर पर अपनी जेठानियो के साथ कैसा व्यवहार करती? उनका क्या कह कर स्वागत करती? वह सैकड़ों जली-भुनी बातें सुनाती, हृदय को चीर डालने वाले ताने कसती और अपमान करती। मगर नहीं, सुगुणी ने ऐसा नहीं किया। शिक्षिता और अशिक्षिता, ज्ञानवती और अज्ञानवती नारियो मे क्या अन्तर होता है, यह इस घटना से स्पष्ट समझा जा सकता है।





बन्धु-मिलन



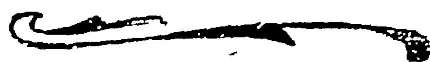
जिस समय सुगुणी की अपनी जेठानियो के साथ मुलाकात हुई, उस समय सुगुणी की एक दासी भी कुछ दूरी पर अपना काम कर रही थी। वह उनकी आपस की बाते तो न सुन सकी, पर हाव भाव एवं चेष्टाएँ सब देख रही थी। वहाँ जो कुछ हो रहा था, उससे दासी को बडा आश्चर्य हो रहा था। आखिर दासी तो दासी ही ठहरी, उसमें विशेष बुद्धि कहाँ से आती? बुद्धि होती तो दासी ही क्यो रहती? अतएव वह नवीन आई हुई तीन दरिद्रा स्त्रियो के साथ अपनी मालकिन को इस प्रकार घुट-घुट कर बाते करते देख कर चकित रह गई। जब चारो पास मे बैठ कर रोने लगी, तब तो उस दासी का धैर्य टूट गया। उसने सोचा—यह औरतें अवश्य ही कोई जादू-टोना जानती हैं। इन्होने हमारी मालकिन पर जादू कर दिया है। उनके चित्त को भरमा दिया है। इसके आगे न जाने क्या अनर्थ होगा, इस विचार से उसे बड़ा क्षोभ हुआ।

दासी सच्ची स्वामिनी भक्त थी। वह अपनी स्वामिनी को माता के समान समझती थी। स्वप्न मे भी उसका अनिष्ट नही सोच सकती थी और न अनिष्ट होता देख सकती थी। इसका प्रधान कारण था सुगुणी का सद्व्यवहार। सुगुणी अपने दास-

जो होता है, सब अपने ही कर्मोदय से होता है। उसके लिए किसी को दोष देना वृथा है। मेरे दिल में कोई रंज नहीं है। आप मेरी ओर से निश्चिन्त रहें। हाँ मासूजी और श्वसुरजी के वियोग का संवाद सुन कर अवश्य ही मेरा हृदय फटा जा रहा है। किन्तु जो होना था सो हो गया। अब चिंता करने से, रोने से, छाती और माथा पीटने से भी वे आ नहीं सकते। उनकी वरद छत्र-छाया हमारा सौभाग्य थी।

× × × ×

अहा! इस प्रसंग पर हमें सुगुणी की वास्तविक महत्ता देखने को मिलती है। उसका हृदय कितना उदार है! उसका मन कितना महान है! धर्म का आचरण मनुष्य को कितनी उच्चता पर प्रतिष्ठित कर देता है। उसने मुनियों का उपदेश सुना था, शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। इसी कारण उसकी आत्मा ऊंची उठ गई थी। सुगुणी के बदले कोई साधारण स्त्री होती तो इस अवसर पर अपनी जेठानियों के साथ कैसा व्यवहार करती? उनका क्या कह कर स्वागत करती? वह सैकड़ों जली-भुनी बातें सुनाती, हृदय को चीर डालने वाले ताने कसती और अपमान करती। मगर नहीं, सुगुणी ने ऐसा नहीं किया। शिक्षिता और अशिक्षिता, ज्ञानवती और अज्ञानवती नारियों में क्या अन्तर होता है, यह इस घटना से स्पष्ट समझा जा सकता है।



अपने किसी नौकर से सुगुणी अत्यधिक काम नहीं लेती थी। वह सदैव उनके सामर्थ्य का विचार करती और कोई नौकर कभी उचित से अधिक काम करता तो उसे रोक देती थी। नौकरों पर इस नीति का बहुत ही अनुकूल प्रभाव पडा था। वे लोग उनके परोक्ष मे भी कभी अपने कार्य मे प्रमाद नहीं करते थे। तात्पर्य यह है कि स्वामी और सेवक मे, नौकर और मालिक मे, आपस मे किस प्रकार का संबंध और व्यवहार होना चाहिए, यह बात जिनदास-सुगुणी और उनके नौकरों क व्यवहार को देख कर समझी जा सकती थी। अपने आश्रित जनों के प्रति स्नेह, दया, सहानुभूति और उदारता का व्यवहार करना भी गृहस्थ धर्म का एक अग है। इस परिवार मे धर्म के इस अग का भी ध्यान पूर्वक पालन किया जाता था।

हाँ, तो इसका परिणाम यह हुआ कि अपनी मालकिन को नवागत स्त्रियो के साथ बैठ कर रोती देख दासी को चिन्ता हुई। उसने सोचा—यह कोई करामाती औरते है। इन्होंने मालकिन पर कोई जादू कर दिया है। यह सोच कर वह जिनदास के पास दौड़ी-दौड़ी गई।

घबराई हुई दासी को आती देख जिनदास ने पूछा—क्यों, क्या बात है ? घबराई क्यो हो ?

दासी—आप जरा जल्दी मेरे साथ चलिए।

जिनदास—बात क्या है ? बता तो दे।

दासी—अपने वहाँ तीन औरते आई हैं।

जिनदास—फिर ?

दासियों को अपने परिवार के जनों में ही गिनती थी। उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझती थी। उनकी चिन्ता को अपनी चिन्ता समझती थी। सदैव उनके प्रति ममता और सहानुभूति प्रदर्शित करती रहती थी। उनके ऊपर अथवा उनके घर वालों पर कभी कोई सकट आ पड़े तो उसे दूर करने में तनिक भी उपेक्षा नहीं करती थी। वह अपने सभी नौकरों और नौकरानियों को अपना सहायक मानती थी। उसने शास्त्र पढ़े थे और शास्त्र में नौकरों के लिए "कोडुंबिय" अर्थात् कौटुम्बिक (परिवार के आदमी) शब्द आता है। इसका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ अपने कर्मचारियों को अपने परिवार का ही सदस्य समझे और वैसा ही व्यवहार करे जैसा वह अपने परिवार वालों के साथ करता है।

शास्त्र में नौकरों को भी सम्बोधन करने के लिए "देवानुप्रिय" शब्द आता है। देवानुप्रिय का अर्थ है—देवों का प्यारा। कितना मधुर शब्द है। "हे देवों के प्यारे" इस प्रकार का सम्बोधन सुन कर किसका हृदय आह्लादित न हो जाता होगा? यह सम्बोधन वास्तव में अत्यन्त मीठा है। अपने नौकरों को "कौटुम्बिक पुरुष" समझना और "देवानुप्रिय" कह कर सम्बोधन करना उस समय की समुन्नत और स्नेहमय समाज व्यवस्था का सूचक है।

सुगुणी इसी के अनुसार अपने नौकरों के साथ व्यवहार करती थी। अतएव उसके सब दास और दासियाँ भी उसे बहुत प्रेम करते थे, उसके प्रति भक्ति-भाव रखते थे और निरन्तर उसके हित की कामना करते थे। उसकी हानि को अपनी हानि और उसके लाभ को अपना लाभ समझते थे।

पुरुष और स्त्री को कर्मसिद्धान्त पर अटल विश्वास होता है। वह जानता है कि मनुष्य अपने कर्म के अनुसार ही सुख-दुःख पाता है। अतएव सुखी बनने का एक मात्र उपाय कर्मों का नाश करना ही है। ऐसा समझने वाला विवेकशील मनुष्य संकट के समय भी धर्म का ही आचरण करता है।

जिनदास धर्म के वेत्ता थे। उन्हें जादू-टोने की बात सुनकर हँसी आई, परन्तु सुगुणी के रोने की बात सुनकर चिन्ता भी हुई। मन मे अनेक प्रकार की आशंकाएं और संभावनाएँ घूम गई। वह उसी समय उठ कर वहाँ आए जहाँ सुगुणी और उसकी जेठानियां थी।

अपनी भौजाइयों को पहचानने मे जिनदास को देरी नही लगी। नजर पड़ते ही उसने समझ लिया कि यह कोई जादूगरनी नहीं, सुगुणी की जेठानियाँ हैं। सुगुणी के रोने का कारण भी वह समझ गए परन्तु अपनी भाभियों को उस दुर्दशा मे देख कर उन्हे अतीव विस्मय और विषाद हुआ। हृदय को ऐसा धक्का लगा कि उसे कठिनाई से सँभाल सके। बिना कहे ही वह सब कुछ समझ गये। उन्होंने सर्व प्रथम यही प्रश्न किया—'भाई कहाँ हैं ?'

अहा! जगत मे भाई का सम्बन्ध कितना मधुर, भावमय और अनूठा है! भाई-भाई का प्रेम संसार की महान् से महान् वस्तु है। क्यों न हो, जिनके शरीर का एक ही धातु से निर्माण हुआ, जिनकी नसों मे एक ही खून चक्कर काट रहा है। उनमें परस्पर प्रेम न होगा तो किनमे होगा ? खेद है कि मनुष्य जब तुच्छ स्वार्थ के वशीभूत हो जाता है, धन-सम्पत्ति को सब से

दासी—फिर भगवान् जाने क्या हुआ ? मालकिन उनसे बातें करती रही, फिर चारों मिल कर रोने लगीं। कौन जाने क्या जादू कर दिया है उन्होंने।

जिनदास—पगली कहीं की !

जादू-टोना क्या चीज है, यह बात आज तक पूरी तरह किसी की समझ में नहीं आई। फिर भी समाज में, खास तौर से स्त्रियों में, इसकी बड़ी धाक है। कोई भी बात अकस्मात् हुई नहीं कि जादू का प्रभाव समझ लिया जाता है। किसी का बेटा बीमार हो गया तो उसने समझ लिया—किसी ने जादू कर दिया है। किसी का घर गिर गया तो उसे विश्वास हो गया कि अवश्य ही यह किसी के जादू का परिणाम है। लोग ठीक तरह कार्य-कारण भाव का विचार नहीं करते और इस तरह की ऊलजलूल बातें गढ लेते हैं। यह सब अन्ध श्रद्धा का परिणाम है। इस अन्ध श्रद्धा का मनुष्य के जीवन पर विपरीत परिणाम होता है। इससे आत्मा निर्बल होती है और प्रत्यक्ष मे भी अनेक हानियाँ होती हैं। जब किसी रोग को जादू-टोने का परिणाम समझ लिया जाता है तो रोग का समुचित इलाज करने की ओर ध्यान नहीं दिया जाता और ऐसे इलाज किये जाते हैं कि जिनका रोग के साथ कोई संबंध नहीं होता। ऐसी दशा मे यह स्वाभाविक ही है कि यथेष्ट परिणाम न निकले और अन्त में रोने और शोक करने के सिवाय कुछ भी हाथ न लगे।

मंत्र-जंत्र और जादू-टोने की धारणाओं ने नारी जाति को बड़े वहम में डाल रक्खा है। इससे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। परन्तु लोग इन अनर्थों की ओर ध्यान नहीं देते। धर्मवेत्ता

लज्जा के भार से भौजाइयों का मस्तक नीचे झुक गया। उत्तर देने में भी उन्हें संकोच हुआ। मगर साहस बटोर कर उन्होंने कहा—उदरपूर्ति की सामग्री जुटाने के लिए वे कहीं बाजार में भटक रहे होंगे। तीनो जने हमें नीचे बिठला कर नगर में गये थे।

जिनदास ने कहा—अच्छी बात है, अभी आ जाएँगे पर देखो अभी कोई गड़बड़ मत करना। किसी पर यह मर्म प्रकट नहीं होना चाहिए, अन्यथा उनकी प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचेगी। लोक-लज्जा को सम्भालना होगा। मैं कोई ऐसा उपाय सोचता हूँ, जिससे सब की प्रतिष्ठा बनी रहे।

उधर तीनो भाई बाजार में घूमने लगे। अशुभ कर्म के योग से कहीं कोई भी काम न मिला। तब वह गलियों में घुसे और वहाँ भी काम-काज की खोज की। पर कोई सफलता न मिली। इतने बड़े नगर में पेट भरने योग्य मजूरी मिलना कोई कठिन बात नहीं थी, परन्तु दैव की लीला ही समझिए कि यह तीनो भाई कुछ भी काम प्राप्त न कर सके।

वह समय तीन दिन के भूखे थे, परन्तु उन्हें अपनी भूख की अपेक्षा अपनी स्त्रियों की भूख की ही अधिक चिन्ता थी। वह सोचने-लगे स्त्रियाँ बड़ी उत्कंठा के साथ हमारे लौटने की प्रतीक्षा कर रही होंगी। भूख की मारी छटपटा रही होंगी। सोचती होंगी—यह लोग भोजन की सामग्री लेकर आते ही होंगे। पर यहाँ यह हाल है कि मुट्ठी भर चनों की व्यवस्था भी नहीं हो सकी। हम लोग खाली हाथ लौटेंगे तो कैसे मुख दिखलाएँगे? क्या कह कर उन्हें तसल्ली देंगे? हमारी दी हुई सफाई से उनका

बडो चीज समझने लगता है और उसकी भावना जब संकीर्ण हो जाती है, तो वह सहोदर को भी बैरी समझने लगता है । पर संसार मे इससे अधिक मूर्खता और अधमता दूसरी नहीं हो सकती । विवेकवान् गृहस्थ अपने भाई को ही ससार की सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति समझता है। वह भाई के लिये अपने प्राणो की भी परवाह नहीं करता । ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं कि भाई ने भाई को रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया । जहाँ एक भाई दूसरे भाई को इस प्रकार चाहता है, वह गृहस्थी सब प्रकार के सुखो का आगार बन जाती है ।

दूर क्यो जाते हो ? जिनदास के ही परिवार का विचार करो । जब तक भाई-भाई मे प्रेम था, सब सुख में थे । उन्हे किसी बात कमी नहीं थी । ज्यो ही उनमे विद्वेष की भावना का उदय हुआ कि उनके सुख में कमी हो गई । जब विद्वेष चरम सीमा पर पहुचा तो सारा घर ही छिन्न-भिन्न हो गया । बन्धु-विरोध का परिणाम ऐसा ही भयकर होता है ।

जैसे सुगुणी के हृदय में अपनी जेठानियों के प्रति द्वेष का भाव नहीं था, उसी प्रकार जिनदास के मन मे भी अपने भाइयो के लिए लेश मात्र भी द्वेप नहीं था । यही नहीं वह पहले की भाँति ही उन्हे प्रेम करता था। उनके दुर्व्यवहार को उसने सामान्य मानवीय दुर्बलता समझ कर उपेक्षा की दृष्टि से देखा था ।

अपनी भौजाइयों को देखते ही उसे अपने भाइयो का स्मरण हो आया । उसने गम्भीर चिन्ता के साथ प्रश्न किया—भाई कहाँ है ?

गया । उसने कहा—मेरे साथ आओ, मै बतलाता हूँ कि तुम्हारी स्त्रियाँ कहाँ है ? मगर पहले तुम अपना परिचय दो । तुम कौन हो और कहाँ से आये हो ?

यह प्रश्न सुनकर तीनो बहुत लज्जित हुए । प्रथम तो उनकी समझ मे यही नही आता था कि यह सेठ हमे अन्दर क्यो ले जा रहा है ? फिर स्त्रियाँ इस मकान मे क्यो और कैसे आ गई ?

उनके मन मे सदेह पर सदेह उत्पन्न हो रहे थे । यह सोच कर कि न जाने आगे क्या होने वाला है और क्या देखने-सुनने को मिलेगा, वे अत्यन्त ही व्याकुल हो रहे थे । जी चाहता था कि इस प्रकार जीवित रहने की अपेक्षा प्राणो का परित्याग कर देना ही उचित है । मौत का आलिंगन कर लेंगे तो सब प्रकार की परेशानियो से छुटकारा मिल जायगा ।

इस दारुण दशा मे वे नहीं चाहते थे कि कोई हमारा नाम ग्राम पूछे । वे अपने बाप-दादाओ को अपकीर्त्ति से बचाना चाहते थे । अतएव उन्होंने अपने नाम आदि का कही परिचय नही दिया था । ऐसी स्थिति मे जिनदास का प्रश्न सुन कर वे लज्जा से झुक गए । उन्होने प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया, सिर्फ जिनदास के चेहरे की ओर देखा । वह चेहरे को देख कर जिनदास के मनोगत भाव को ताड़ने की चेष्टा करना चाहते थे और यह जानना चाहते थे कि सेठ ने किस अभिप्राय से यह प्रश्न किया है ।

मगर सेठ के चेहरे को जरा गौर से देखा तो उन्हे उस पर जिनदास की छाया दिखलाई दी । छाया ही नहीं दिखलाई

पेट कैसे भर जायगा ? वे क्या सोचेंगी ? कैसे जिन्दी रहेंगी ? पर कोई उपाय भी तो नहीं दीखता । अत्यन्त प्रबल पापकर्मों का उदय आया है । न मालूम कौनसा कुकृत्य करके यह पाप-कर्म बाँधा था ?

इस प्रकार नाना संकल्पों-विकल्पों की लहरों में बहते हुए और अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हुए तीनों भाई उसी जगह आए, जहाँ स्त्रियों को छोड़ गये थे । परन्तु उन्हें यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि वहाँ तीन में से एक भी नहीं मौजूद है ।

तीनों की घबराहट का पार नहीं रहा । उन्होंने विचार किया—अब पूरी दुर्दशा हुई । अब पूरी तरह लुट गये । जो कुछ शेष था, वह भी समाप्त हो गया जान पड़ता है । परिवार छिन्न-भिन्न हो चुका था, पैतृक घर चला गया था, सम्पत्ति सारी नष्ट हो गई थी, अब औरतों से भी हाथ धोना पड़ेगा ?

उन्होंने आकर इधर-उधर देखने का प्रयत्न किया । न दिखाई दी तो आसपास के लोगों से पूछना आरम्भ किया—अजी, कुछ देर पहले यहाँ तीन स्त्रियाँ बैठी थीं । आपको कुछ पता है, वह किधर चली गई हैं ?

किसी ने कहा—नहीं भाई, हमें नहीं मालूम ।

जो जरा उजड्ड थे, वे बोले—हम क्या उनके पहरेदार थे ? यहाँ कौन किसकी औरत को देखता-भालता रहता है ?

इस प्रकार के उत्तर सुनकर तीनों हतबुद्धि हो गये और इधर-उधर खोज करने लगे । इतने में ही जिनदास ने उन्हें देख लिया और आवाज देकर बुलाया । वह उन्हें पीछे के बाड़े में ले

भाइयों की छाती पर सॉप लोट गया। गहरी दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे।

श्रावक—हम दुखिया हैं। दुखिया लोगों से हँसी करना अच्छा नहीं।

जिनदास—रहे होओगे दुखिया, अब तुम्हारे दुःखों का अन्त आ गया है।

श्रावक—हमारे दुःखों का अन्त प्राणों के अन्त के साथ ही होता दिखाई देता है। सचमुच वह अन्त अब दूर नहीं है।

अत्यन्त कातरतापूर्ण शब्द सुन कर और अपने सहोदर भाइयों की असीम व्यथा का विचार करके जिनदास के मृदुल हृदय में भाला-सा चुभ गया। उससे अब न रहा गया। उसने कहा—सोहन शाह जैसे धीर, वीर, गम्भीर सेठ के पुत्र होकर इतनी अधीरता दिखलाते हो?

अपने पिता का नाम सुनते ही तीनों भाइयों का सन्देह निश्चय में बदल गया। उन्हें विश्वास हो गया कि यह जिनदास के सिवाय दूसरा नहीं है। उनकी प्रसन्नता का पार न रहा।

इसी बीच जिनदास ने कहा—अपने छोटे भाई को भी भूल गये? इतनी जल्दी? मैं आपका वही सेवक जिनदास हूँ। भौजाइयाँ ऊपर हैं। मगर यह तो बतलाइए कि माताजी और पिताजी कहाँ हैं।

तीनों भाइयों के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने

दी, उन्हें ज्ञात हुआ कि कहीं यह जिनदास ही तो नहीं है! फिर सोचा—मगर यह तो यहीं का निवासी सेठ है। इसकी इतनी बड़ी हवेली खड़ी है। इसके वैभव का ठिकाना नहीं दीखता। जिनदास इतनी जल्दी इतना बड़ा सेठ कैसे बन सकता है। लक्ष्मी आती है तो भी आती-आती ही आती है। अचानक आकाश से नहीं बरस पड़ता। मगर हमारी आँखें भी क्या बदल गई हैं? हालत बदल गई, आँखे तो वही है।

इस प्रकार सोच-विचार मे पड़े हुए तीनो भाई कुछ निश्चय नहीं कर सकते थे। यद्यपि किसी समय यह सब वर्षों साथ में रहे हैं और सगे भाई हैं, तथापि आज इनकी स्थिति में आकाश पाताल जितना अन्तर है। राजा और रंक में जो भेद होता है, वही जिनदास और उसके भाइयो मे हो गया है। दुःख, विपत्ति, दरिद्रता और मानसिक व्यथाओ ने उनके चित्त में अतिशय हीनता और दीनता का भाव उत्पन्न कर दिया था। वे स्वय अपनी ही निगाहों में गिर गए थे। इस कारण सेठ के सामने वे अपने आपको तुच्छतर ही समझ रहे थे।

यही कारण था कि वे अपने सन्देह को व्यक्त करने मे भी झिझक रहे थे। चतुर जिनदास उनकी यह उलझन समझ रहा था। फिर भी उसने जल्दी ही मर्म को प्रकट नहीं किया।

तीनो ने कहा—कृपा कर हमारी स्त्रियो का पता बता दीजिए।

जिनदास—आपकी स्त्रियाँ मेरे घर मे हैं!

हँसते हुए जिनदास ने जब यह उत्तर दिया तो तीनो

गृहत्याग को भी धिक्कारने लगा। उसने सोचा—मैं समझता था कि मेरी उपस्थिति के कारण घर मे पारिवारिक सघर्ष होता है और इससे माताजी और पिताजी को क्लेश पहुचता है। मैं चल दूगा तो शान्ति हो जाएगी। माता-पिता भी शान्ति पाएँगे। दुर्भाग्य से मेरा विचार उलटा सिद्ध हुआ। जिनके सुख के लिए मैंने घर छोड़ा था, वे सब अधिक दुःख मे पड गए।

शास्त्र के अनुसार पुत्र पर माता-पिता का असीम उपकार है। उस उपकार का शास्त्र मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्दो में उल्लेख किया गया है। स्थानांगसूत्र मे बतलाया गया है कि कोई भी कुलीन पुरुष सवेरे ही सवेरे शतपाक और सहस्रपाक जैसे तैल से माता-पिता क शरीर की मालिश करे। मालिश करके सुगध-मय द्रव्यो से उवटन करे। इसके पश्चात् सुगंधित, उष्ण और शीतल जल से स्नान करावे। फिर सब प्रकार के अलकारों स उनके शरीर को भूषित करे। तदनन्तर मनोज्ञ और रुचिवर्धक अठारह प्रकार के व्यजनो सहित उन्हें भोजन करावे और फिर उन्हे कधो पर उठाये फिरे। जीवन पर्यन्त इतनी सेवा-शुश्रूषा करने पर भी वह पुरुष माता-पिता के उपकार से ऊरिन नहीं हो सकता। हाँ, अगर वह केवलि-प्ररूपित धर्म का बोध देकर उन्हे धर्म मे स्थिर कर दे तो वह माता-पिता के महान् उपकार का बदला चुका सकता है।

जिनदास शास्त्र का ज्ञाता था। उसे यह बात भली-भाँति विदित थी। अतएव उसे इस बात का अवश्य सन्तोष था कि मैं माता-पिता के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर सका। फिर भी उसकी अन्तरात्मा मे यह व्यथा थी कि अन्तिम समय में मैं उनका मुख न देख सका, उनकी कोई सेवा न कर सका, उनके

लगीं। वे हिचकियाँ ले-लेकर रोने लगे। थोड़ी देर तक किसी के मुख से कोई शब्द न निकला।

थोड़ी देर में कुछ आश्वस्त होकर आवड़ ने कहा—कुछ न पूछो भाई, हम लोग अत्यन्त अधम और पापी हैं। हमारे दोषों का पार नहीं है। हमने निष्कारण ही तुम्हें व्यथा पहुँचाई। यहाँ तक कि तुम्हें गृहत्याग के लिए विवश कर दिया। किसे मालूम था कि हम सब तुम्हारे पुण्य से ही पल रहे हैं? मगर सचाई यही थी। तुमने घर छोड़ा कि लक्ष्मी ने भी घर का त्याग कर दिया। पुण्य भी विमुख होकर चला गया। जिस रात तुमने बाहर पाँव रक्खा, उसी रात से हमारी दुर्दशा आरम्भ हो गई। तुम्हारे परदेश-प्रयाण का समाचार सुनते ही माता-पिता ने परलोक की ओर प्रयाण कर दिया। एकत्र छिपा हुआ धन चोर ले गये। सदा तो गहना बिखरा रहता था, मगर उस समय बँटवारे के लिए सारा का सारा गहना एकत्र रक्खा गया था, मानो चोरों के लिए ही ढेर कर दिया गया हो। एक ही रात्रि में हम फकीर हो गए। हवेली की भी रक्षा न कर सके। वह भी चली गई! उसके बाद जो कुछ हुआ, उसे न कहना ही ठीक है। सुन कर तुम्हारा कलेजा भी फटने लगेगा।

जिनदास को माता-पिता का वियोग जान कर असीम वेदना हुई। यद्यपि वह तत्त्व का ज्ञाता था और जानता था कि संसार का कोई भी सम्बन्ध स्थिर नहीं रह सकता, फिर भी शोक के आवेश में उस तत्त्व ज्ञान को भी भूल गया। उसके नेत्रों से नीर बहने लगा। जिस परिस्थिति में उसे माता-पिता का विछोह हुआ, वह बड़ी दर्दनाक थी। उसी का विचार करके जिनदास का धैर्य टूट गया। उसके पश्चाताप की सीमा न रही। वह अपने

है। आप उसी के वहाँ जाकर ठहरना और मेरा पत्र उसे दे देना। वह आपको सुखपूर्वक रक्खेगी। वहाँ से किसी आदमी के साथ अपने आगमन का पत्र यहाँ भेज देना। और उसमे आने की तिथि तथा समय निश्चित करके लिख देना। उसी समय हम आपके स्वागत के लिए सामने आएँगे और धूमधाम के साथ आपको यहाँ लाएँगे। ऐसा करने से आपकी और हमारी शोभा बढेगी।

यह सब भलीभाँति समझा कर जिनदास ने उन्हे बहुत-सा धन दिया और मीठी माजी के नाम एक पत्र भी दे दिया। तत्पश्चात् एक गाडी की व्यवस्था करके छहो को, गुप्त मार्ग से प्रागपुर पहुँचा दिया। पोलासपुर मे उसने किसी को इस घटना का पता नही चलने दिया।

छहो जने सकुशल प्रागपुर पहुचे। मीठी माजी के घर गये। जिनदास का नाम सुनते ही माजी को अत्यन्त प्रसन्नता हुइ। उसने अत्यन्त आदर के साथ उन्हे अपने घर मे ठहराया। वृद्धा को यह जान कर बड़ा हर्ष था कि जिनदास मुझे भूले नही हैं। उसने बड प्रेम के साथ उनकी कुशल-क्षेम पूछी।

कुछ दिन वहाँ रह कर आवड आदि ने पोलासपुर के लिए एक पत्र तैयार किया, जिसमे माता-पिता के स्वर्गवास का समाचार लिखा था। वह पत्र एक आदमी के साथ पोलासपुर भेज दिया गया। उस पत्र को पाकर जिनदास ने वह सब लोकाचार किया जो ऐसे अवसर पर किया जाता है। परन्तु उसके लोकाचार मे धार्मिकता का पुट तो होना स्वाभाविक ही था। अतएव उसने दीनो, दरिद्रो, अनाथो और अपङ्गो को मुक्तहस्त-

समाधिमरण में सहायक नहीं बन सका। वह सोचता था—मैं उपस्थित होता तो उन्हें पण्डितमरण की प्राप्ति होती। मेरे अभाव में वे आर्त्तध्यान पूर्वक परलोक पधारे।

इसके अतिरिक्त आखिर जिनदास भी ससारी प्राणी था। मोह-ममता पर उसने पूरी तरह विजय नहीं पाई था। फिर माता-पिता के प्रति उसके हृदय मे प्रगाढ़ अनुराग था। कुलीन पुरुष माता-पिता के भक्त होते ही हैं। जिन्होंने पुत्र को यह शरीर दिया, सैंकडो कष्ट सहन करके प्रेम से पाला-पोसा, बडा किया, शिक्षित और सस्कारी बनाया, जिनकी कृपा से वह सब प्रकार से योग्य बना, भला उनकी सेवा-भक्ति न करे तो किसकी करेगा? माता-पिता की यथोचित सेवा-भक्ति न करने वाला पुरुष घोर कृतघ्न है। वह मानव समाज का कलक है जो अपने दुर्व्यवहार से उनके चित्त को पीड़ा पहुचाता है। जिनदास माता-पिता का परम कृतज्ञ था। अतएव उनके इस प्रकार मर जाने से उसे असीम वेदना हुई।

किसी प्रकार शान्ति धारण करके जिनदास ने भाइयो का स्वागत किया। उनके स्नान-भोजन की व्यवस्था की और कहा—इस समय अधिक बातचीत करने का अवसर नहीं है। आप लोगो के इस प्रकार आने मे न आपकी शोभा है और न मेरी ही। मैं आपको ठाठ के साथ यहाँ बुलाना चाहता हूँ। अतएव एक बार आपको दूसरी जगह जाना होगा।

आवड़—दूसरी जगह कहाँ जाएँगे?

जिनदास—यहाँ से तीन कोस की दूरी पर आगपुर नामक छोटा-सा गाँव है। वहाँ एक "मीठो मांजी" नामक वृद्धा रहती

लिए भी उसके मन मे प्रतिशोध लेने की भावना उत्पन्न नही हुई। क्षण भर के लिए भी उसे अहंकार ने अभिभूत नही किया। एक बार भी उसने नही सोचा कि—जिन्होंने मुझे घर-द्वार छोडने के लिए बाध्य किया, उनसे मुझे क्या प्रयोजन है ? इन्हे अपने कर्मों का फल भुगतने दो ! जितना कष्ट पाएँगे, उतनी ही इनकी अक्ल दुरुस्त होगी। यही नही, उसने पूर्ण आत्मीयता के साथ अपने भाइयो को अपनाया और इस ढग से अपनाया कि उनकी प्रतिष्ठा को रंच मात्र भी धक्का न लगे। उसने उनकी और अपनी प्रतिष्ठा को अभिन्न समझा।

वास्तव मे इस प्रकार की उदारता ससार मे क्वचित् ही देखने को मिलती है। वह उन्ही मे मिल सकती है, जिन्होने धर्म के ऊपरी कलेवर को ही नही, धर्म के मर्म को समझा हो और अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न किया हो। नीतिकार ठीक ही कहते हैं.—

उपकारिषु य साधु, साधुत्वे तस्य को गुण ।
अपकारिषु य साधु, स साधु सद्भिरुच्यते ॥

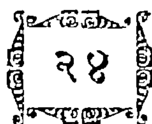
अर्थात्—अपने ऊपर उपकार करने वालो के प्रति जो साधुता-भलमनसाहत-दिखलाता है, उसकी भलमनसाहत का कोई विशेष मूल्य नहीं है। भलमनसाहत उनकी प्रशंसनीय है जो अपना अनिष्ठ-अपकार-करने वालो के प्रति दिखलाते है।

इस कथन के अनुसार जिनदास की साधुता-सज्जनता-निस्सन्देह प्रशंसनीय है। उसने अत्यन्त आदर और विनय के साथ अपने भाइयों का स्वागत किया। इस स्वागत-समारोह मे

से दान देकर साता पहुँचाई। पोलासपुर के सभी प्रतिष्ठित और साधारण लोग जिनदास के घर सम्वेदना प्रकट करने के लिए आए। जिनदास ने उन सब के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और संसार की अनित्यता का प्रासंगिक उल्लेख किया। यथासमय मातृ-पितृशोक से निवृत्त होकर जिनदास अपने काम-काज में लगे। जब भाइयों का, मिलने के लिए सपत्नीक आने का समाचार आया तो उन्होंने इस संवाद को नगर में फैला दिया। नगर निवासी इस समाचार को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और जिनदास के भाइयों के सपत्नीक आने की बाट जोहने लगे। सब लोग उन्हें देखने के लिए उत्कंठित थे।

निश्चित समय पर तीनों भाई अपनी स्त्रियों के साथ बड़े ठाठ-बाट से रवाना हुए। उन्होंने जिनदास के कथनानुसार ही सब शाही व्यवस्था की। अश्वों के रथ में सवार होकर पोलासपुर पहुंचे। नगर के बाहर वे ठहर गए। समाचार पाकर जिनदास अपने स्वजनों, परिजनों और मित्रों के साथ उनका स्वागत करने और नगर प्रवेश कराने के लिए उनके सामने गए। भाई-भाई बड़े प्रेम से मिले। जिनदास को तीनों भाइयों ने अंकवार में भर लिया और छाती से लगाया। जिनदास ने उनके चरणों का स्पर्श किया और अपनी नम्रता प्रकट की।

जिनदास के भाइयों का उसके प्रति और उसकी पत्नी के प्रति कितना कठोर व्यवहार रहा, यह बात ध्यान में रखकर जब हम जिनदास के अपने भाइयों के प्रति किये गए व्यवहार पर विचार करते हैं, तो जिनदास की उदारता और महानुभावता की भूरि-भूरि प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। जिनदास सामान्य मानव नहीं, देवता पुरुष जान पड़ता है। पल भर के



पुत्रप्राप्ति और निवृत्ति



आज जिनदास की हवेली की अपूर्व शोभा थी। ऐसी चहल-पहल दिखाई पड़ती थी, जैसी पहले कभी दिखाई नहीं दी। बाहर मांगलिक वाद्य बज रहे थे। सहनाई की मधुर ध्वनि कानों में अमृत घोल रही थी। रास्ते से आने--जाने वाले भी थोड़ी देर के लिए वहाँ रुक जाते थे और उनके रुकने से काफी भीड़ एकत्र हो रही थी।

जिनदास के द्वार पर आज भिखारियों का जमघट था। इतने भिखारी इकट्ठे हुए थे कि उन्हें गिनना कठिन था। खासी बड़ी फौज सी थी। लोग उस भीड़ को देख कर विस्मित हो रहे थे कि आखिर पोलासपुर मे इतने भिखारी कहाँ से आ पहुँचे? मगर जिनदास की ओर से उन सब को भोजन और वस्त्र का दान किया जा रहा था। जिनदास ने अपने सेवकों को आदेश दिया था कि अपने द्वार से कोई निराश होकर न लौटे। जिसे भोजन चाहिए उसे भोजन देना। जिसके पास वस्त्र न हो उसे वस्त्र देना—सब को कुछ न कुछ देकर विदा करना।

हवेली के भीतर इतनी नारियाँ एकत्र हुई थी कि विशाल हवेली भी आज संकीर्ण जान पडती थी। अनेक स्त्रियाँ मङ्गल-

सुगुणी भी सम्मिलित हुई थी। एक ओर जिनदास अपने भाइयों का सत्कार कर रहा था तो दूसरी ओर सुगुणी अपनी जेठानियों के सत्कार मे व्यस्त थी।

स्वागत—सत्कार का वह दृश्य बड़ा ही भावमय और प्रेरणा प्रद था। जिसने देखा वही इन भाइयों को आदर्श भाई समझने लगा। भाई का भाई के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए, यह सीखने के लिए जिनदास का उदाहरण बड़ा सुन्दर है। वहाँ उपस्थित दर्शक यद्यपि पूर्व वृत्तान्त को नही जानते थे, फिर भी उन्होने उसकी मुक्त कंठ से प्रशसा की। सब लोग इस बन्धुमिलन से अत्यन्त हर्षित हुए।

अच्छा चौघड़िया देख कर जिनदास अपने भाइयों और भौजाइयो को नगर में लाया। सब लोग आनन्द पूर्वक रहने लगे। अब किसी के मन मे ईर्षा—द्वेष का भाव नही रह गया था।



नहीं करता तथा दान-शील आदि का सेवन करने के कारण जनता का प्रिय होता है।

(५) अक्रूर—क्लेश रहित परिणाम वाला होता है। किसी के छिद्र नहीं खोजता। अनुकम्पाशील होता है। किसी के चित्त को अपने व्यवहार से आघात नहीं पहुचाता।

(६) भीरु—पापो से डरता है।

(७) अशठ—कभी धूर्त्तता नहीं करता—कपट से दूर रहता है।

(८) सदाक्षिण्य—अपने कार्य में बाधा डाल करके भी सदा दूसरो का कार्य करने वाला—परोपकारी होता है।

(९) लज्जालु—पाप करते लजाने वाला और ग्रहण किये हुए सदाचार का परित्याग न करने वाला।

(१०) दयालु—दयाशील। दुखियो का दुख यथाशक्ति दूर करने वाला।

(११) मध्यस्थ—समभाव से विचरण करने वाला, किसी पर राग-द्वेष न रखने वाला, अनुचित पक्षपात न करने वाला।

(१२) सौम्यदृष्टि—प्रेमपूर्ण दृष्टि वाला हो, जो देखते ही दूसरे प्राणियो मे प्रेम उत्पन्न कर दे।

(१३) गुणानुरागी—सद्गुणो और सद्गुणवानो पर अनुराग रखने वाला।

गान कर रही थी। कोई हंस रही थी, कोई बातें कर रही थी, कोई सुगुणी का बखान कर रही थी, कोई जिनदास का यशोगान कर रही थी। सारी हवेली शब्दायमान हो रही थी।

जिनदास और सुगुणी अपने उदार एवं आदर्श व्यवहार से नगर के सर्व-प्रिय नागरिक थे। पहले बतलाया जा चुका है कि वे सब के कामों में सम्मिलित होते थे और समुचित भाग लेते थे। सभी का खयाल था कि जिनदास हमारे प्रति अत्यन्त कृपालु हैं। इस नगर में सभी उनके हितैषी थे, सभी मित्र थे, सभी उन्हें हृदय से प्रेम करते थे। कोई भी उनका शत्रु न था और वे भी किसी के शत्रु नहीं थे। उन्होंने कभी किसी को हानि पहुंचाने का विचार तक नहीं किया था। आदर्श श्रावक के २१ गुण बतलाये गये हैं। अर्थात् जिसमें इक्कीस मानवोचित विशेषताएँ होती हैं, वही वास्तव में आदर्श श्रावक पद का अधिकारी होता है। वह सब जिनदास के जीवन में विद्यमान थे। यथा—

(१) अक्षुद्र—जो तुच्छ स्वभाव वाला न हो, गम्भीर हो।

(२) रूपवान् अपनी पवित्र आन्तरिक भावनाओं के कारण जिसके रूप में मनोहरता हो।

(३) सौम्य प्रकृति—जो स्वभाव से सौम्य हो, अर्थात् जिसकी आकृति शान्त हो और रूप विश्वास उत्पन्न करने वाला हो। ऐसा व्यक्ति प्रायः पाप नहीं करता और स्वभावतः श्रद्धा पात्र बनता है।

(४) लोकप्रिय—इहलोक और परलोक में अहितकर कार्य

सच्ची धार्मिकता के फल है। कोई व्यक्ति वास्तव में धार्मिक है अथवा नहीं, यह जानने के लिए यह गुण कसौटी का काम देते है। जिनदास मे इन सभी का अच्छा विकास हुआ था, क्यो कि उसकी नस-नस मे धार्मिकता भरी हुई थी। इसी कारण वह पोलासपुर नगर की समग्र जनता का प्रेम पात्र बन चुका था। सुगुणी जिनदास की ही छाया थी। उसमे भी वही सब विशेषताए थी, जो जिनदास मे थी। वह पति की सच्ची अर्धाङ्गिनी थी और जिनदास उसका सच्चा अर्धाङ्ग था।

सारा पोलासपुर इस आदर्श दम्पती के उच्च आचार, विचार और उच्चार का प्रशंसक था। सभी उसे अपना आत्मीय समझते थे। एसी स्थिति मे आज के दिन भला कौन जिनदास को बधाई देने न आता ?

आज जिनदास के घर मे प्रकाश का उदय हुआ था। आज सुगुणी की रत्नकुक्षि से सुपुत्र ने जन्म ग्रहण किया था। इसी उपलक्ष्य मे यह महान् समारोह हो रहा था। न केवल जिनदास के हृदय मे, वरन् उनके सभी हितैषियो के हृदय मे अपूर्व हर्ष और उल्लास था।

जिनदास और सुगुणी को किसी वस्तु की कमी नही थी। ससार का समस्त वैभव और सम्पन्न सुख, पुण्य के उदय से अनायास ही उन्हे प्राप्त था। अब तक के जीवन मे सिर्फ एक ही कमी थी-सन्तति का न होना। आज वह कमी भी दूर हो गई। जिनदास की हवेली आज जगमगा उठी। वह मानो सजीव हो उठा।

यथा समय पुत्र का नामकरण सस्कार किया गया।

(१४) सत्यकथक—सुपक्षयुक्त-सदाचारी तथा सदाचार की बातें करने वाले मित्रों वाला। अर्थात् धर्म, नीति और सदाचार की बातें कहने वालों के सम्पर्क में रहने वाला।

(१५) दीर्घदर्शी—प्रत्येक कार्य के भले-बुरे परिणाम का भलीभाँति विचार करने वाला।

(१६) विशेषज्ञ—हित-अहित को भलीभाँति जानने वाला।

(१७) वृद्धानुगत—परिपक्व बुद्धि वाले बुजुर्गों का अनुसरण करने वाला।

(१८) विनीत—बड़ों का विनय करने वाला।

(१९) कृतज्ञ—दूसरे द्वारा किये हुए छोटे से छोटे उपकार को भी नहीं भूलने वाला।

(२०) परहितार्थकारी—सदा दूसरों का हित करने वाला।

(२१) लब्ध लक्ष्य—श्रावक के धर्म को भलीभाँति समझने वाला। श्रावक की धार्मिक क्रियाओं को जल्दी ही समझ लेने वाला।

इन गुणों के सम्बन्ध में विचार किया जाय और जिनदास तथा सुगुणी के चरित को गहरी दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह सभी गुण इस दम्पती में नैसर्गिक रूप में विद्यमान थे। वास्तविक बात यह है कि जिसमें सच्ची धार्मिकता आ जाती है, उसमें इन गुणों का विकास अपने आप ही हो जाता है। उसे इन्हें सीखने की आवश्यकता नहीं होती। यह गुण

और कन्या की जाति अगर एक है तो उनका विवाह कर देने मे कोई बाधा नही समझी जाती। यही नही, अगर जाति भिन्न हो और धर्म एक हो तथा और भी सब प्रकार की अनुरूपता हो तो भी उनमे विवाह सम्बन्ध नही होता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि लोग धर्म की अपेक्षा जाति को ज्यादा महत्त्व देते है। यह कहाँ तक उचित है, धर्म प्रेमी सज्जनो को इस बात पर विचार करना चाहिए।

पति-पत्नी मे धर्म की विषमता होने पर अनेक प्रकार की असुविधाएँ होती हैं। दोनो का हृदय एक दूसरे से दूर रहता है। उनमे एकरूपता कायम नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त उनसे जो सन्तति होती है, उसकी श्रद्धा एकरूप नही हो पाती। पिता की श्रद्धा और प्रकार की तथा माता की श्रद्धा और प्रकार की होती है, तो सन्तान गडबड़ मे पड जाती है और वह किसी प्रकार का निश्चय करने में असमर्थ हो जाती है। अतएव विचक्षण और धर्म प्रिय मनुष्य धर्म की एकरूपता को ही प्रधानता देते हैं। जैन शास्त्रो मे जाति का यह अर्थ नही माना गया है जो आज कल माना जाता है। वहाँ जाति का अर्थ मातृपक्ष समझा जाता है। अभिप्राय यह है कि मातृपक्ष की उत्तमता का विचार तो अवश्य कर लेना चाहिये, किन्तु प्रधानता धर्म को ही देना चाहिए। स्वधर्मी के साथ ही कन्या का लेन-देन करने से अनेक लाभ होते है। जिनदास और सुगुणी की रग-रग मे धर्म के प्रगाढ़ सस्कार भरे थे। अतएव उन्होने धर्मोदय का स्वधर्मी कन्या के साथ ही विवाह करना उचित समझा।

धूमधाम के साथ विवाह हो गया। वधू ने आकर जिनदास की हवेली को गुलजार कर दिया। सुगुणी का हृदय हर्ष से

जिनदास ने अपने धर्मप्रेम के कारण पुत्र का नाम 'धर्मोदय' रक्खा।

धर्मोदय शिशु दूज के चांद के समान वृद्धि को प्राप्त होता गया। उसकी बालचेष्टाएँ माता-पिता को मोहने लगी। उसकी तोतली बोली हृदय को हरण करने लगी। सुगुणी अत्यन्त सावधानी के साथ शिशुसंगोपन के सिद्धान्तो के अनुसार उसका पालन-पोषण करने लगी। नियमित खान-पान, रहन सहन आदि के कारण बालक स्वस्थ और सुन्दर दिखलाई देता था। उसकी चेष्टाएँ उसके उज्ज्वल भविष्य की साक्षी दे रहीं थी।

बालक धर्मोदय आखिर आठ वर्ष का हुआ। उस समय उसे विद्याभ्यास के लिए गुरु के पास भेजा गया। धर्म सीखने के लिए उसे मुनिराजों के सम्पर्क मे लाया गया। इस तरह धर्मोदय अल्प काल में ही सब लौकिक विद्याओ मे तथा कलाओं मे परिपक्व हो गया और सामायिक प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाओं में भी कुशल हो गया।

यौवन अवस्था होने पर जिनदास ने उसके विवाह के सबंध मे विचार किया। सुगुणी और जिनदास ने मिलकर निश्चय किया कि हमे स्वधर्मी के साथ ही सबंध स्थापित करना चाहिए। अतएव अपने अनुरूप कुल की सुन्दरी और धार्मिक संस्कार वाली कन्या की खोज करके धर्मोदय का उसके साथ विवाह कर दिया।

विवाह के विषय मे विभिन्न देशो और समाजों में अलग-अलग पद्धतियाँ प्रचलित है। साधारणतया आज जाति के आधार पर विवाह-सम्बन्ध होते है। धर्म भिन्न होने पर भी वर

अब आप विचार कीजिए कि एक सरीखी प्रतीत होने वाली क्रिया से इन दो मनुष्यों का उद्देश्य कितना भिन्न है ? यही उद्देश्य-भेद उनके फल में महान् भेद उत्पन्न कर देता है।

जिनदास ज्ञानवान् श्रावक था। उसका उद्देश्य भी बहुत ऊँचा था। उसने निवृत्तिमय धर्म-जीवन यापन करने के अभिप्राय से धर्मोदय का विवाह सम्पन्न किया।

जिनदास ने धर्मोदय को अपनी देखरेख में व्यापार आदि लौकिक कार्यों में कुशल बना दिया था। धर्मोदय ने धीरे-धीरे गृहस्थी का सारा काम-काज सम्भाल लिया। जिनदास को विश्वास हो गया कि अब धर्मोदय इस गृहस्थी का भार उठाने मे समर्थ हो गया है।

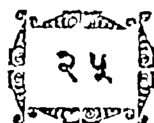
उधर सुगुणी ने अपनी पुत्रवधू को भी इसी प्रकार व्यवहारकुशल बना दिया था। उसने भीतर का सब काम-काज अपने नियन्त्रण मे ले लिया था। अत सुगुणी भी बेफिक्र हो चुकी थी।

इस प्रकार इस दम्पती ने गार्हस्थिक चिन्ताओं से मुक्त होकर धर्म की आराधना का निश्चय किया। सोचा—जिस उद्देश्य के लिए गृहस्थ-जन सन्तान की कामना करते है, वह उद्देश्य पूर्ण हो चुका है। अब हमें एकाग्र भाव से आत्महित की ओर लक्ष्य देना चाहिए।

यह सोच कर जिनदास और सुगुणी ने चारो खध धारण कर लिए। उन्होंने सचित्त के आरम्भ का त्याग कर दिया। उनका सारा समय सामायिक, प्रतिक्रमण, पोषध, उपवास आदि

मर गया।

दो व्यक्तियों की क्रिया ऊपर से एक सरीखी दिखाई देने पर भी वस्तुतः एक ही सी नहीं होती। अगर उनमें एक ज्ञानी और दूसरा अज्ञानी है तो क्रिया के आन्तरिक रूप में अत्यधिक अन्तर पड़ जाता है। इसी अभिप्राय से शास्त्र में कहा गया है कि अज्ञानी जिस क्रिया से आस्रव निपजाता है, ज्ञानी उसी से संवर की साधना कर लेता है। इस महान् अन्तर का प्रधान कारण उनकी भावना का भेद है। जैसी भावना से कार्य किया जाता है, वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। अज्ञानी जन केवल मोह से प्रेरित होकर अपनी सन्तान का विवाह आदि क्रियाएँ करते हैं और जब पुत्र वधू आ जाती है तो हर्ष मान लेते हैं। वे अपने अनुराग के दायरे को बढ़ाते हैं, अधिक मोह के चक्र में फँसते हैं। ज्ञानी गृहस्थ भी अपनी सन्तती का विवाह करता है, परन्तु उसकी भावना निराली ही होती है। वह अपनी सन्तान में चतुर्थ व्रत की पात्रता उत्पन्न करने के विचार से उसका विवाह करता है। उन्हें पूरा गृहस्थ बना कर पारिवारिक उत्तर-दायित्व उनके कंधों पर छोड़ देता है और आप निश्चिन्त होकर, निवृत्ति धारण कर लेता है। संयम ग्रहण करने की योग्यता होने पर गृहत्याग करके अनगार बन जाता है। अनगार बनने की शक्ति नहीं होती तो भी निवृत्तिमय जीवन-यापन करता हुआ विशिष्ट गृहस्थधर्म का पालन करता है। इस प्रकार एक अपने धर्म की वृद्धि के लिए सन्तान का पालन, पोषण, विवाह आदि करता है और ऐसा करते समय अपनी अलिप्तता कायम रखता है, और दूसरा अपने मोह की वृद्धि के लिए अनुरक्ति-भावना के साथ वही कार्य करता है।



ऋषिराज का शुभागमन

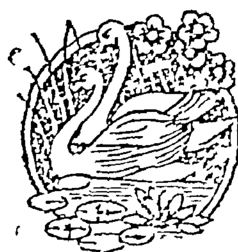


उन्ही दिनो पोलासपुर मे ऋषिवर धर्मजय महाराज का पदार्पण हुआ। वे मुनिराज चरणक्रिया और करणक्रिया के धारक थे। आचार्य की आठ सम्पदाओ से सुशोभित थे और छत्तीस गुणो से सम्पन्न थे। वह विभिन्न जनपदो में अप्रतिबन्ध विहार किया करते थे। उनके साथ और भी बहुसख्यक मुनि थे। उन सब के बीच धर्मजय ऋषि ऐसे शोभायमान होते थे, जैसे नक्षत्रो मे चन्द्रमा सुशोभित होता है। आचार्य महाराज को चन्द्रमा की उपमा देना बहुत उपयुक्त तो नही कहा जा सकता क्योकि वह हीनोपमा है। चन्द्रमा कलँक से मुक्त है, किन्तु आचार्यजी सब प्रकार से मुक्त थे उनमे ज्ञान, दर्शन सम्बन्धी कोई कलक नही था। चन्द्रमा का प्रकाश जड होता है जब कि आचार्य महाराज चैतन्यमय प्रकाश के पुज थे। इसी प्रकार चन्द्रमा की अपेक्षा और भी अनेक विशिष्टताएँ उनमे थी। तथापि इससे अधिक अच्छी दूसरी उपमा न होने से उन्हे चन्द्रमा के समान कहना पडता है। यो मुनिराज अपने ज्ञान से अपूर्व प्रकाश प्रदान करते है। कहा भी है—

विषयसुखनिरस्ताभिलाष प्रशमगुणगणाभ्यलकृत साधु ।
द्योतयति यथा न तथा, सर्वाण्यादित्यतेजासि ॥

धार्मिक क्रियाओं में व्यतीत होने लगा। इन क्रियाओं को करते समय वे अपनी आन्तरिक वृत्तियों की ओर भी पूरा लक्ष्य रखते थे। वे कोरे इन्द्रियदमन को ही महत्व नहीं देते थे, वरन् मनोनिग्रह को भी महत्त्वपूर्ण मानते थे। बल्कि मनोनिग्रह को प्रधानता समझते थे। मनोनिग्रह के अभाव से कोरी बाह्य तपस्या केवल कायकष्ट ही होती है। ऐसी तपस्या से आत्मा की विशुद्धि नहीं होती। आत्मशुद्धि के मन की विशुद्धि होना चाहिए। चित्त मे से ज्यों-ज्यो राग-द्वेष कषाय आदि के संस्कार कम होते जाते हैं, त्यों-त्यो आत्मा के गुणों का विकास होता है। समभाव की वृद्धि ही धर्म का वास्तविक स्वरूप है।

इस तथ्य को भलिभाँति समझने के कारण जिनदास और सुगुणी ने अधिक से अधिक समभाव प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वे बाह्य और आन्तरिक तपस्या का सुन्दर समन्वय करके धर्म के मार्ग पर अग्रसर हुए।



अर्थात्—जिन्होंने पांचों इन्द्रियों के विषयों से होने वाले सुखों की अभिलाषा का त्याग कर दिया है, अर्थात् इन्द्रिय-जनित सुख को दुःख का कारण समझ कर तथा क्षण विनश्वर जान कर जो उस सुख के प्रति सर्वथा निस्पृह बन गये है, जो प्रशम (कषायों की उपशान्ति) के कारण अनेक गुणों से विभूषित है, ऐसे साधु समाज से जो ज्ञान का प्रकाश फैलाते हैं, वैसा प्रकाश सूर्य का प्रकाश भी नहीं फैला सकता।

मुनिजन अपनी सुधामयी वाणी से श्रोताओं के मिथ्यात्व अज्ञान और सन्देह रूप अन्धकार का निवारण करते हैं और उसमें ज्ञान की लोकोत्तर ज्योति प्रकट कर देते हैं, क्या सूर्य से ऐसा करने की शक्ति है? चन्द्रमा वह ज्योति जगा सकता है? कदापि नहीं।

ऋषिश्वर धर्मजय देश-देश की भव्य जनता को वीतराग देव की प्रशस्ट वाणी सुना कर सत्पथ प्रदर्शित करते हुए और उसके उद्गार के उपायों का निदर्शन कराते हुए पोलासपुर में पधारे।

पोलासपुर मे पधार कर ऋषिराज नगर के बहिर्भाग मे अवस्थित एक मनोरम उद्यान मे ठहर गए। उन्होंने उद्यानपाल की अनुमति ले ली और आवश्यक अचित्त वस्तुओं की भी याचना कर ली। इतना करके आचार्य महाराज अपने ज्ञान--ध्यान मे मग्न हो गए।

महान् मुनिराज का आगमन जान कर वनपाल उसी समय पोलासपुर के राजा के दरबार मे पहुचा। उसने महाराजा को मुनिराज के पदार्पण की बधाई दी।

मुनिराजों का समागम महान् मंगल का साधन है। महान् पुण्य के योग से सच्चे संयमनिष्ठ महात्माओं का दर्शन होता है। यों तो साधु का वेश पहन कर घूमने वाले बहुत हैं, पर सच्ची साधुता जिनमें होती है, उनके दर्शन मात्र से अन्त करण में पावन भावनाओं का निर्मल निर्झर प्रवाहित होने लगता है। उनकी वाणी भव-भव क पापों का अन्त कर देती । भगवान वीतराग के पथ पर चलने वाले ऐसे सच्चे साधु के है जिसे दर्शन हो, उसका सौभाग्य प्रशसनीय है।

पालासपुर-नरेश मुनियो का परम भक्त था। उद्यानपाल के मुख से धर्मजय महाराज के शुभागमन का संवाद सुन कर उसे अत्यन्त हर्ष हुआ। राजसभा मे उपस्थित अन्य जनो को भी असीम आनन्द हुआ। राजा ने उसी समय चतुरंगी सेना सजा कर मुनिराज के दर्शनार्थ जाने का निश्चय किया, साथ ही नगर मे भी घोषणा करवा दी।

नगर भर मे ऋषिराज के पदार्पण का समाचार फैल गया। भव्य जीवो को इस समाचार से अत्यन्त आनन्द का अनुभव हुआ। सब लोग सज-सज कर और भक्ति भाव से युक्त होकर उसी ओर रवाना होने लगे जिस ओर वह उद्यान था। उनमे बालक भी थे, कठिनाई से पैदल चल सकने वाले वृद्धजन भी थे, युवा भी थे, महिलाएँ भी थीं और अल्पवयस्क बालिकाएँ भी थीं।

जिनदास उस समय पोषधशाला मे बैठे धर्मध्यान कर रहे थे। उन्हे भी यह उत्तम और अभीष्ट बधाई पहुंची। उन्हे इतना हर्ष हुआ कि जिसका वर्णन करना सम्भव नही है। सुगुणी भी

अर्थात्—हे प्रभो ! हे तीन लोक के नाथ ! आज आपकी इस वीतरागतामयी, अनूठी प्रशान्त सुख मुद्रा का दर्शन करके मेरा मनुष्य शरीर धारण करना सार्थक हो गया। हे देव ! मै आज अतिशय धन्य हूँ जो आपके मुख रूपी सुधाकर से झरने वाले वचन रूपी अमृत का पान करने के योग्य बन सका। आज मेरा अत्यन्त अहो भाग्य है, परम पुण्योदय है।

इसके पश्चात् जिनदास ने कहा—गुरुदेव ! आपके असीम उपकारो का वर्णन करना मेरे लिए सभव नही है। आपने मुझे सम्यग्ज्ञान की दिव्य-ज्योति प्रदान की हैं। उस ज्योति को प्राप्त करके मैने हित-अहित का भेद समझा, हेय--उपादेय का विवेक प्राप्त किया और सम्यक्-मिथ्या एवं धर्म-अधर्म का अन्तर जान पाया। आपके द्वारा प्रदत्त ज्योति के दिव्य आलोक में मै अपने आत्म--श्रेयस् के पथ पर अग्रसर हो रहा हूं। दीनानाथ ! आपकी दया असीम है। आपने मुझे ज्ञान का प्रकाश न दिया होता तो इस अज्ञान से आवृत्त विश्व मे कहाँ मेरा ठिकाना होता ? मै साधना के पथ पर बिना ठोकर खाए कैसे आगे बढता ? आपके इस उपकार के लिए मैं जन्म-जन्मान्तर तक उपकृत रहूँगा।

मुनिवर ! आज आपके पुन दर्शन करके मुझे परम प्रसन्नता हुई। बहुत दिनो के पश्चात् आपके प्रशस्त दर्शन का लाभ मिला। आज मेरे मनोरथ सफल हुए। आज मेरा हर्ष हृदय मे समाता नही है। आपके दर्शन लाभ से मेरे नयन कृतार्थ हो गए।

श्राविकावरिष्ठा सुगुणी ने भी आचार्य महाराज के दर्शन

आनन्दातिरेक से खिल उठी। दोनों मुनिराज की उपासना के लिए तत्काल तैयार हुए। अपने समस्त परिवार को भी उन्होंने शीघ्र तैयार हो जाने का आदेश दिया। उसी समय सब तैयार हो गए और अतीव उल्लास के साथ उद्यान की ओर रवाना हुए।

इस प्रकार राजा और प्रजा नगर के बाहर आए और उद्यान की ओर आगे बढ़े। ज्यों ही उद्यान मे विराजमान महान् मुनिराज दृष्टिगोचर हुए तो सब ने सवारियो का परित्याग कर दिया। पैदल चलने लगे। अभिमान के चिन्ह स्वरूप छत्रचामर आदि का भी त्याग कर दिया। यतना के लिए उत्तरासन किया और हाथ जोड़ लिए। जब मुनिराज के कुछ समीप पहुंचे तो नम्र भाव से सब ने अपना मस्तक झुका लिया। सभी ने 'तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण' आदि गुरु-वन्दना का पाठ उच्चारण किया और श्रद्धा-भक्ति के साथ वन्दना की। तत्पश्चात् सब लोग अपने-अपने उचित स्थान पर बैठ गए।

जिनदास भी इस समूह मे सम्मिलित थे। उन्होंने आगे आकर आचार्य महाराज को वन्दना की। आचार्य महाराज ने जिनदास को पहचान लिया और उनका नाम लेकर संबोधन किया। इससे जिनदास को बड़ा आनन्द हुआ। उसने अपना अहोभाग्य समझा। तत्पश्चात् प्रसन्न मुख मुद्रा से वह कहने लगा.—

अद्य प्रभो! त्रिभुवनेश! मदीयमेतत्
यात तनु सफलता तव दर्शनेन।
धन्योऽस्मि देव! भवदाननचन्द्रनिर्य—
दाश्चर्यकारिवचनामृतभाग् यो हि॥

इन्होंने धर्मविमुख कुल मे जन्म लेकर भी बाल्यावस्था मे सत्सगति की और धर्म का बोध प्राप्त किया। धर्म का बोध ही प्राप्त नही किया, वरन् उसे अस्थि-मज्जा मे रमा लिया। मालवा जनपद के महेन्द्रपुर नगर के दृढ धर्मी नगर-सेठ की कन्या, जो अत्यन्त धर्मशीला है, के साथ इनका विवाह सम्बन्ध हुआ है। इन्होंने अपने माता-पिता को भी धर्मात्मा बना कर पिता का ऋण चुकाया है। यह दूसरो को सुख देने के लिए स्वय दुःख उठाने वाले हैं। फिर यह सुखी क्यो न होगे ? सुखी होने का प्रधान कारण करुणा है और इनका अन्तःकरण करुणा का वरुणालय है। इन्होने स्वयं सुखी होकर दूसरो को सुखी बनाया है। जो व्यक्ति स्वय सुख भोगता है पर दूसरो को सुखसाधन देकर सुखी नही बनाता, उसका सुख प्रशसनीय नही होता। प्रशसनीय वही है जो दूसरो को सुखी बनाता है। इन्होने इस प्रकार धर्म का खूब लाभ लिया है। इसी कारण मैंने इनका नाम लेकर बुलाया है।

जो जान करके दोष भी पर के कभी कहते नही,
होकर स्वय गुणवान् निज गुणगान जो करते नही।
उन सज्जनो की फैलती है कीर्त्ति सर्व दिगत मे,
वे लोकप्रिय होकर सदा हैं स्वर्ग पाते अन्त मे॥

आचार्य धर्मजय महाराज के मुखारविन्द से सेठ जिनदास का सक्षिप्त परिचय पाकर श्रोताजन अत्यन्त हर्षित हुए। पुण्य का प्रभाव जानकर अनेक लोगो ने पाप का परित्याग करने का सकल्प किया।

करके अपूर्व आनन्द का अनुभव किया। वह भी अपने जीवन को धन्य मानने लगी।

पोलासपुर नरेश बैठे-बैठे यह सब कथन सुन रहे थे। जिनदास ने जब अपना कथन समाप्त किया तो आचार्य महाराज से उन्होंने प्रश्न किया—गुरुदेव! आप इन सेठ को पहचानते है? यह बड़े दानी, धर्मी और अनेक गुणों के भाण्डार हैं और अचानक ही अपने नगर मे प्रकट हुए हैं।

मुनिराज ने कहा—जो धन को बड़ी वस्तु समझता है, वही धनवानो की गुलामी करता है। जिसे धन की अभिलाषा होती है, वह धनवानों की मिथ्या स्तुति करके उन्हे देवता बना देता है। धन का दास धनवान् के आगे घुटने टेकता है। मुझे धन की कामना नहीं है। मेरे लिए धन वमन के समान है। अतएव धनवान् मेरे लिए श्रद्धा का नहीं, दया का पात्र है। किन्तु जिनदास धर्मी है और धर्मी मनुष्य सब को प्रिय लगता है, तो साधुओं को प्रिय लगने में आश्चर्य ही क्या है? साधु तो धर्मात्मा जनों को अपने धर्मस्नेह का पात्र मानते ही हैं। जिनदास धर्मनिष्ठ होने के कारण ही साधु जनो के भी वल्लभ हैं।

जिनदास का जन्म धर्मसंस्कारहीन कुल मे हुआ था। धार्मिक कुल में जन्म लेकर धर्मात्मा बनने में विशेष कठिनाई नहीं होती। ऐसे कुल में जन्म से ही धर्म का वातावरण मिलता है और इस कारण हृदय की भूमि मे धर्म के अंकुर जल्दी पनप सकते हैं। इसी प्रयोजन से शास्त्र मे कुलसम्पन्नता का जिक्र भी आता है। किन्तु अधर्मी कुल मे जन्म लेकर धर्मी बन जाना कम प्रशंसा की बात नहीं है। ऐसे धर्मात्मा कोई विरले ही होते है। उन विरले मनुष्यों मे से जिनदास एक है।



उपदेश-श्रवण

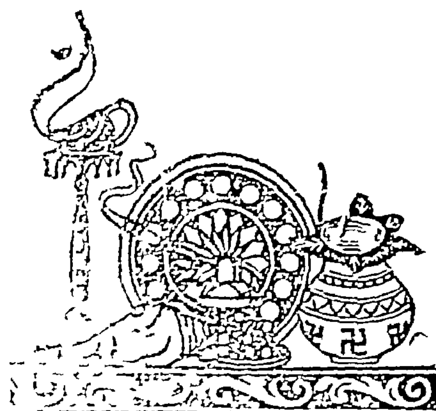
ऋषिराज धर्मजय उच्च कोटि के अध्यात्मनिष्ठ महापुरुष थे। वे महान् योगी थे। उन्होंने आत्मा के साथ एकरूपता प्राप्त कर ली थी। बाहर की क्रिया करते हुए भी आत्मा में तन्मय रहने वाले महात्मा थे। जैसे जल मे रहता हुआ भी कमल जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार वे ससार मे रहते हुए भी संसार से अलिप्त थे।

पोलासपुर के नरनाथ वहाँ विराजमान थे। बहुसख्यक जनता धर्म की पिपासा को शान्त करने के लिए उपस्थित थी। उसी समय मुनिराज सयती का परिणामधारा ऊँची चढी। वे सहसा ध्यान मे—शुक्ल ध्यान मे—लीन हुए। छठे गुणस्थान से सातवे में और तत्काल ही आठवे गुणस्थान में जा पहुचे। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गए। सातवे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक की प्रत्येक की स्थिति अन्तमु हूर्त्त मात्र की है यह सब गुणस्थान एक ही अन्तमु हूर्त्त में भी पार किये जा सकते हैं।

पाठक जानते होंगे कि चौदह गुणस्थानों में से आरम्भ के १२ गुणस्थान मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के निमित्त से होते हैं और अन्तिम दो-सयोग-केवलिगुणस्थान तथा अयोगकेवलिगुणस्थान योग की विशेषता के कारण

आचार्य के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर जिनदास सम-भाव से स्थिर रहे। सम्यग्दृष्टि का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह अपनी निन्दा और प्रशंसा में समभाव धारण करता है। किसी के मुख से प्रशंसा सुनकर हर्ष न मानना और निन्दा सुन कर विषाद के वशीभूत न होना सम्यग्दृष्टि की विशेषता है। वह प्रत्येक स्थिति में अपनी त्रुटियों का ही विचार करता है और उन्हें दूर करने का ही प्रयत्न करता है। उसका मुद्रालेख ही यह होता है कि—

समो निन्दापसंसासु, समो माणावमाणओ।



ज्ञानावरण आदि कर्मों की लम्बी स्थिति को अपवर्त्तना-करण के द्वारा घटा देना स्थितिघात कहलाता है। इसी प्रकार कर्मों की तीव्र फल देने की शक्ति को मन्द कर देना रसघात कहलाता है। स्थितिघात के द्वारा अपने-अपने नियत समयों से हटाए हुए कर्म के दलिकों को पहले ही अन्तर्मुहूर्त्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणी कहलाती है। पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बंधने वाली शुभ प्रकृतियों के रूप में पलट देना गुणसंक्रमण कहलाता है।। पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति वाले कर्मों का बंध होना अपूर्व स्थितिबंध कहलाता है।

यह पाँच विशेषताएँ प्राप्त करने के कारण अष्टम गुणस्थानवर्त्ती मुनि सब कर्मों के सेनापति मोहनीय कर्म के क्षय अथवा उपशम की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

तत्पश्चात् नौवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। नौवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षपण आरंभ हो जाता है। यह गुणस्थान आठवें की अपेक्षा अधिक विशुद्धि का स्थान है। इसके अन्त में संज्वलन कषाय के क्रोध, मान, माया अंश का क्षय हो जाता है। तब दसवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। दसवें गुणस्थान में सिर्फ संज्वलन लोभ का ही सूक्ष्म उदय रहता है। दसवें गुणस्थान के बाद उपशमश्रेणी वाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है और वहाँ अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त ठहर कर नीचे गिर जाता है परन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्षपकश्रेणी वाला जीव सीधा बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। दसवें गुणस्थान के अन्त में मोहनीय कर्म पर पूर्ण विजय प्राप्त हो जाती है, अतएव बारहवें गुणस्थान वाला जीव पूर्ण रूप से वीतराग दशा प्राप्त कर लेता है। कषाँ

होते है। यहाँ गुणस्थानो का स्वरूप विस्तारभय से विगत मे नही दिया जा सकता, तथापि प्रकृत घटना को भलीभाँति समझने के लिए जितनी जानकारी आवश्यक है, उतना मात्र दिग्दर्शन कराया जाता है।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्याना-वरण कषाय का नाश कर देने पर छठे गुणस्थान की प्राप्ति होती है। इस गुणस्थान को प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं। सभी प्रकार के सावद्य कार्यों का पूरी तरह त्याग कर देने पर जीव संयत कहलाता है, किन्तु प्रमाद का—निद्रा, आहार, वार्त्तालाप आदि का—त्याग न रहने के कारण प्रमत्त कहलाता है। यह उन मुनियो का गुणस्थान है जो बाह्य क्रियाओ मे व्याप्त रहते है। प्रमत्तसंयत मुनि जब निद्रा आदि आदि प्रमादो का परित्याग करके ध्यान मे अवस्थित होते हैं, तब उन्हे अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। प्रमादकारणक अशुद्धि इस गुण-स्थान मे हट जाती है। यह ध्यानावस्था की स्थिति है।

सातवें के पश्चात् मुनिजन आठवें गुणस्थान को प्राप्ति प्राप्त करते है। आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं—उपशम श्रेणी और क्षपकश्रेणी। उपशम श्रेणी आरम्भ करने वाला मुनि मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का उपशम करता हुआ और ऊँचा चढ़ता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है। क्षपक श्रेणी वाला दसवे गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान मे जा पहुचता है। वह ग्यारहवे गुणस्थान मे नही जाता।

आठवे गुणस्थान मे मुनि पाँच वस्तुएँ करता है—(१) स्थितिघात (२) रसघात (३) गुणश्रेणी (४) गुणसंक्रमण और अपूर्वस्थितिबंध।

अचानक ही आकाश में दुंदुभी का मधुर घोष होने लगा। सुरगण हर्ष के साथ 'जय-जय' के नाद से गगन मण्डल को गुँजित करने लगे। वायुमण्डल में एकाएक परिवर्तन हो गया ! सब श्रोता विस्मित रह गए। देवगण वहां आकर उपस्थित हुए। तब केवली भगवान् का उपदेश प्रारंभ हुआ:—

भव्य जीवो! ३४३ घनरज्जु प्रमाण इस लोक मे इस जीव ने अनंत-अनंत पुद्‌गलपरावर्त्तन पूरे किये है। यह जीव कभी स्वर्ग मे तो कभी नरक मे, कभी मनुष्य गति मे तो कभी तिर्यंच गति मे जन्म लेता आ रहा है और वहां को आयु पूर्ण करके मृत्यु का ग्रास बनता आ रहा है। कभी त्रसपर्याय मे और कभी स्थावर पर्याय मे उत्पन्न हुआ। कभी पृथ्वीकाय मे, कभी जलकाय मे, कभी अग्निकाय मे, कभी वायुकाय मे और कभी वनस्पतिकाय मे जन्म लेता और मरता है। संक्षेप मे, चारो गतियो और चौरासी लाख जीवयोनियो मे अनादि काल से जीव परिभ्रमण कर रहा है। इस परिभ्रमण की परम्परा मे इस जीव ने कैसे-कैसे कष्ट सहन किये, कितनी-कितनी दुस्सह व्यथाएँ भोगी है, इसका शब्दो द्वारा उल्लेख होना असम्भव है। अनन्त जिह्वाएं भी उन वेदनाओ, व्यथाओ, दुःखो और कष्टो का वर्णन करने मे समर्थ नही है। संसार वेदनाओ का घर है, यह आप जानते है। ससारी जीवो को कैसी-कैसी व्यथाएँ भोगनी पड़ती है, इसका भी कुछ-कुछ अनुभव समस्त ससारी जीवो को है।

बहुत-से जीव तो ऐसे भी है जो प्रबलतर कर्मो से आच्छादित है और इस कारण अनादि काल से लेकर आज पर्यन्त भी कभी त्रस पर्याय नही प्राप्त कर सके है। वे निगोद की

के सेनापति मोहनीय कर्म को समूल नष्ट कर डालने से आत्मा में महान् और प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतएव बारहवें गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त्त जितने समय में ही वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिक कर्मों का भी क्षय करके अनन्तज्ञानवान, अनन्तदर्शनवान् और अनन्तशक्तिमान् बन कर तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। यही जीवन्मुक्त दशा है, इसी को आर्हन्त्यदशा कहते हैं, इसे अपरा मुक्ति भी कहते हैं। इसी गुणस्थान को प्राप्त केवली भगवान् जगत के कल्याण के लिए धर्म का उपदेश करते हैं। इस गुणस्थान में कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त तक और अधिक से अधिक कुछ कम एक करोड़ पूर्व तक रह सकते हैं।

इसके पश्चात् योगों का भी निरोध करके अर्थात् मन, वचन एवं काय के व्यापार को पूर्ण रूप से रुद्ध करके भगवान् अयोग केवलीदशा को प्राप्त करते हैं। यह चौदहवाँ गुणस्थान है। चौदहवें गुणस्थान की स्थिति बहुत थोड़ी है। अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व स्वरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने ही समय तक चौदहवें गुणस्थान में ठहर कर अयोग केवली भगवान् सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं और सदैव के लिए अजर, अमर अविनाशी, अनन्त आनन्द के धाम ज्योतिर्मय बन जाते हैं।

मुनिराज सबकी परिषद के मध्य में विराजमान थे। चिरकालीन रत्नत्रय की आराधना के फलस्वरूप उनकी आत्मा में विशिष्ट विशुद्धि उत्पन्न हुई। वे सातवें गुणस्थान से ऊँचे उठे और क्षपक श्रेणी पर आरूढ हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने मोहनीय कर्म को और फिर तीनों घातिक कर्मों को, पूर्वोक्त क्रम के अनुसार खपा कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लिया वे केवली हो गए।

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रज पादशौच विधत्ते—
पीयूषेण, प्रवरकरिण वाहयत्यैन्धभारम् ।
चिन्तारत्न विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं,
यो दुष्प्राप्य गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्त ॥

सोने के थाल मे धूल भरने वाला मूर्ख गिना जाता है, अमृत से पैर धोने वाला नादान माना जाता है, ऐरावत के समान उत्तम गजराज पर ईंधन लादने वाला नासमझ समझा जाता है, कौवों को उडाने के लिए चिन्तामणि रत्न फैंकने वाला बहुत बडा मूर्ख माना जाता है, किन्तु जो प्रमादी पुरुष इन्द्रियो के विषय-भोग भोगने मे इस दुर्लभ मानव-भव को गँवा देता है, वह इन सब से भी बढ कर मूर्ख है ।

भद्र जीवो ! मानवजन्म की सार्थकता प्राप्त करने के लिए धर्म की आराधना करना आवश्यक है, परन्तु धर्माराधना करने से पहले सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन मोक्ष-मार्ग मे पहला कदम है । इसके अभाव मे ज्ञान और चारित्र सम्यक् नहीं होते । सम्यग्दर्शन का अर्थ है—शुद्ध श्रद्धा । जिनप्रणीत तत्त्वो पर प्रगाढ आस्था होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए जीव को पाँच लब्धियाँ करनी पडती हैं । वे यह हैं—(१) क्षयोपशम-लब्धि (२) विशुद्धि-लब्धि (३) देशना-लब्धि (४) प्रयोग-लब्धि और (५) करण लब्धि । आठो कर्मों का अनुभाग (रस) समय-समय पर घटा हुआ उदय मे आना क्षयोपशम-लब्धि है । फिर सातावेदनीय का प्रकट होना और धर्मानुराग जगाना विशुद्धि-लब्धि है । तत्पश्चात् जीवादि तत्त्वों का बोध प्राप्त करना और आचार्य आदि का

निकृष्टतम अवस्था मे पडे है और वहाँ एक श्वास जितने काल में अठारह बार जन्म-मरण का दुःख उठा रहे है।

अनन्त-अनन्त पुण्य का उदय होने पर त्रसपर्याय मिलती है। सभे उभी द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय होना, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय होना, चतुरिन्द्रिय से पचेन्द्रिय होना अनन्त पुण्य का फल समझना चाहिए। मगर पंचेन्द्रिय होकर भी मनुष्य गति मिल जाना बडा कठिन है। मनुष्य भी हो गए, किन्तु अनार्य क्षेत्र में, अनार्य जाति मे या अनार्य कुल में उत्पन्न हुए तो मनुष्य भव पाना न पाने के समान ही हो जाता है। उस स्थिति मे धर्म की साधना करने का सुयोग नही मिलता। धर्म का सुयोग वही पुण्यवन्त पाते हैं जो आर्य जाति मे, धर्मसस्कार से सम्पन्न कुल मे जन्म लेते हैं। सौभाग्य समझो आप अपना कि आज आपको धर्म-साधना की समग्र सामग्री प्राप्त है।

भव्य जनो! आपको उदार पुद्गलो से बना हुआ औदारिक शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीर को पाकर तथा अन्य समस्त अनुकूल सयोग पाकर आपको धर्म की आराधना करनी चाहिए। जो यह संयोग पाकर धर्म का आचरण नही करता, वह अपना मनुष्यजीवन व्यर्थ गँवा देता है। उसका जीवन पशु के जीवन से भी गया-बीता होता है। उसने अपनी जननी को व्यर्थ ही अपने जन्म से कष्ट पहुचाया है। वस्तुत. मानव-जीवन की चरम सफलता आत्मा का शाश्वत कल्याण करने मे ही है और आत्मकल्याण का एक मात्र साधन धर्म है अत प्रत्येक विवेकशील मनुष्य को धर्म के पथ पर ही चलना चाहिए। क्योकि कहा है —

मिश्रदर्शन मोहनीय कर्म के उदय से जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या रहती है, उस समय को उसकी स्थिति सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाती है । इस गुणस्थान में अनंतानुबन्धी कषाय का उदय नहीं रहता, अतः कुछ शुद्धता रहती है, किन्तु मिथ्यात्व का उदय होने से अशुद्धता भी रहती है । इस कारण तीसरे गुणस्थान में मिले-जुले परिणाम होते हैं ।

सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर भी जब चारित्रमोहनीय कर्म की अप्रत्याख्यानावरण प्रकृति का उदय रहता है, तब चौथा गुणस्थान होता है और जब अप्रत्याख्यानावरण का नाश हो जाता है और प्रत्यख्यानावरण का उदय रहता है, तब देशविरति नामक पाँचवाँ गुणस्थान होता है। यह गुणस्थान श्रावक की भूमिका है । श्रावक की विरति अनेक प्रकार की होती है, किन्तु सभी श्रावक इसी में होते हैं । श्रावक में सम्यक्त्व का होना तो अनिवार्य है ही, एकदेशविरति भी होती है । उसकी श्रद्धा विशुद्ध हो जाती है । सम्यग्दृष्टि जीव सच्चे देव, गुरु और धर्म को ही देव, गुरु और धर्म समझता है । कहा भी है —

या देवे देवताबुद्धि गुरौ च गुरुतामति ।
धर्मे च धर्म धी शुद्धा, सम्यक्त्वमिदमुच्यते ।।

अर्थात्—सुदेव को देव समझना, सुगुरु को गुरु समझना और सद्धर्म को धर्म समझना सम्यक्त्व कहलाता है ।

सम्यक्त्व को प्राप्त करते ही जीव को मिथ्यात्व से होने वाला आस्रव रुक जाता है । जितने अंशों में वह विरति को धारण करता है, उतने अंशों में अविरतिजनित आस्रव भी रुक जाता है । और जितनी मात्रा में आस्रव रुकता है, उतनी मात्रा

बखान करना रूप देशना-लब्धि प्राप्त होती है। इसके बाद आत्मा में जब विशुद्धता होती है और सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति की हानि होती है, तब जीव को प्रयोग-लब्धि की प्राप्ति होती है। यह चार लब्धियाँ भव्यजीव भी पाता है और अभव्य-जीव भी पा लेता है। लेकिन पाँचवीं करण-लब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त हो सकती है। उसके तीन भेद हैं—यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। यह तीनों करण अर्थात् आत्मा के परिणाम क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम हैं। जीव को जब तीनों करणों की प्राप्ति होती है, तभी उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है—और तभी चौथा गुणस्थान मिलता है।

आत्मिक गुणों के विकासक्रम की दृष्टि से देखा जाय तो पहला मिथ्यात्वनामक गुणस्थान जीव की निकृष्टतम अवस्था है। इस गुणस्थान में जीव की दृष्टि अर्थात् समझ या श्रद्धा विपरीत होती है। जैसे धतूरा खा लेने वाले जीव को या पीलिया रोग के रोगी को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है, इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव कुदेव को सुदेव, कुगुरु को सद्गुरु और कुधर्म को सद्धर्म समझता है। यह गुणस्थान मोहनीय कर्म के उदय से होता है और मोहकर्म ही जीव की समझ को विपरीत बना देता है।

दूसरा गुणस्थान उस समय होता है, जब जीव अन्तर्मुहूर्त्त के लिए औपशमिक सम्यक्त्व पाकर पुनः चौथे गुणस्थान से गिरता है। इस गुणस्थान में जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि सम्यक्त्व का कुछ स्वाद उसमें बना रहता है।

इस चार प्रकार के धर्मों के भी अनेक प्रकार से भेद-प्रभेद किये गये है। दानधर्म के प्रधान तीन भेद है—ज्ञानदान अभयदान और धर्मोपकरणदान। ज्ञानदान का स्वरूप एव प्रभाव इस प्रकार है'—

दिन्नेण जेण जीवो विन्नाया होइ बन्धमोक्खाण।
त होइ नाणदाण, सिवसुहसपत्तिबीज तु ॥
दिन्नेण जेण जीवो पुण्ण पाव च बहुविहमसेस।
सम्म वियाणमाणो, कुणइ पवित्ति निवित्ति च॥
पुण्णम्मि पवत्तन्तो, पावइ य लहु नरामरसुहाइ।
नारयतिरियदुहाण य, मुच्चइ पावाउ सुणियत्तो॥
तिरियाण य मणुआण य, असुरसुराण च होइ ज सुक्ख।
त सव्वपयत्तेण, पावइ नाणप्पभावेण॥

अर्थात्—ज्ञानदान के देने से जीव बन्ध और मोक्ष का ज्ञाता हो जाता है, अत' वह मोक्ष रूपी सम्पत्ति का बीज है। ज्ञानदान जिसे दिया जाता है वह जीव पुण्य और पाप को पूरी तरह जान लेता है और उसी के अनुसार पुण्य मे प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति करता है। पुण्य मे प्रवृत्ति करने से मनुष्यगति और देवगति के सुखो को सरलता से प्राप्त कर लेता है और पाप से निवृत्त होने के कारण नरकगति एव तिर्यंचगति के दु खो से बच जाता है। संसार मे तिर्यञ्चो को, मनुष्यो को, असुरो को और सुरो को जो भी सुख है, वह सब ज्ञान के ही प्रभाव का फल है।

निर्मल ज्ञान के प्रभाव से ही जीव को ससार के सभी सुख प्राप्त होते है, परन्तु ज्ञानदान की विशेषता यह है कि उसके

में संवर होता है। पाँचवें गुणस्थान के आगे पूर्णरूपेण विरति अङ्गीकार कर लेने पर छठा प्रमत्तसंयत गुणस्थान होता है। यह समस्त आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर देने वाले, महाव्रत, समिति और गुप्ति के धारक मुनियों को प्राप्त होता है।

इसके आगे का विकास क्रम पहले दिखलाया जा चुका है, अतएव उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जो सम्यक्त्वपूर्वक एकदेश चारित्र का पालन करता है, जिसमें अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषायों का सद्भाव नहीं रह जाता और जो शास्त्रप्रदर्शित श्रावकाचार के अङ्गों का पालन करता है, वह श्रावक कहलाता है। कहा भी है—

सिद्धान्तश्रवणे श्रद्धा, विवेकव्रतपालनम्।
दानादिकरण सेवा, ह्येतच्छ्रावकलक्षणम्॥

अर्थात्—सर्वज्ञ-सर्वदर्शी द्वारा प्ररूपित सिद्धान्त का सुनने से श्रद्धा रखना, विवेक के साथ व्रतों का पालन करना, दान शील, तप और भावना रूप चतुर्विध धर्म का आराधन करना और सन्तों की सेवा करना श्रावक के लक्षण हैं। और भी कहा है—

धम्मो चउव्विहो दाण-सील—तव भावणामइओ।
सावय! जिणेहिं भणिओ, तियसिन्दनरिन्दनमिएहिं॥

अर्थात्—हे श्रावक! देवेन्द्रों और नरेन्द्रों द्वारा नमस्कृत जिनों ने चार प्रकार का धर्म कहा है—दान, शील, तप और भावना।

एय तु अभयदाण, तियसिन्दनरिन्दनमियचलणेहि ।
सावय ! जिएहि भणिय, दुज्जयकम्मट्ठदलणेहि ॥

अर्थात्—सब जीव अत्यन्त दुखित अवस्था मे भी जीवित रहने की ही इच्छा करते है, अतएव विवेकशील जनो को समझना चाहिए कि उन्हे जीवन ही सब से अधिक प्रिय है।

सम्राट् मृत्यु उपस्थित होने पर अपना समस्त साम्राज्य दान करके भी मृत्यु से बचने और जीवित रहने की अभिलाषा करता है। इस बात से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसे साम्राज्य और जीवन मे से जीवन ही अधिक प्रिय है।

जो बुद्धिमान् मनुष्य परलोक मे सुख पाने की इच्छा करता है, उसे अन्य प्राणियो को वही दान खूब देना चाहिए जो ग्राहक को—दान लेने वाले को—इष्ट हो। सभी ग्राहको को जीवन सब से अधिक इष्ट है, अत जीवनदान या अभयदान अवश्य देना चाहिए।

अभयदान के प्रभाव से परलोक मे भी जीवो को दीर्घ आयु, सुन्दर रूप एवं नीरोगता की प्राप्ति होती है और वह सब की प्रशसा का पात्र बनता है।

हे श्रावक ! देवेन्द्रों और नरेन्द्रो के द्वारा जिनके चरणो मे नमस्कार किया जाता है, जिन्होने दुर्जय आठ कर्मो को विनष्ट कर दिया है, उन जिनेन्द्र देव ने अभयदान का उपदेश दिया है।

तीसरा दान धर्मोपकरणों का दान है। इस दान की भी बड़ी महिमा है। इसके विषय मे भी कहा है—

प्रभाव से जीव बिना कष्ट भोगे—सुखपूर्वक ही मोक्षसुख भी प्राप्त कर लेता है। अतएव ज्ञानदान सब दानों में श्रेष्ठ है।

इहलोयपारलोइयसुहाइ सव्वाइ तेण दिन्नाइ।
जीवाण फुड सव्वनुभासिय देइ जो नाण ॥
गयरागदोसमोहो, सव्वन्नू होइ नाणदाणेण ।
मणुयासुरसुरमहिओ, कमेण सिद्धि च पावेइ ॥

जो मनुष्य सर्वज्ञ द्वारा भाषित ज्ञान का दान देता है, वह सारों जीवों को इस लोक और परलोक सबधी सभी सुखो का दान देता है। ज्ञानदान के प्रभाव से जीव सर्वज्ञ बनता है, वीतराग बनता है और क्रमश मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

दूसरा अभयदान है। अभयदान की महिमा का भी कहाँ तक वर्णन किया जाय ? ससार मे प्राणियो को सब से अधिक प्रिय वस्तु अपने प्राण ही हैं। प्राणों से ज्यादा प्रिय अन्य कोई वस्तु नहीं है। अत प्राणदान देना सब से प्रिय वस्तु का दान देना है। कहा भी है —

इच्छन्ति सव्वजीवा, निब्भरदुहिया वि जीविउ जम्हा ।
तम्हा त चेव पिय, तेसिं कुसलेण विन्नेय ॥
जम्हा य नरवरिन्दो, मरणम्मि उवट्ठियम्मि रज्ज पि ।
देइ सजीवियहेउ, तम्हा त चेव इट्ठपर ॥
दायव्व च मइमया, ज इट्ठ होइ गाहगाए तु ।
त दाण परलोए, सुहमिच्छन्तेण सुविसाल ॥
दीहाऊ य सुरूवो, नीरोगो होइ अभयदाणेण ।
जम्मन्तरे वि जीवो, सयलजणसलाहणिज्जो य ॥

संसार जुगुच्छणया, कामविरागो सुसाहुजणसेवा।
तित्थयरभासियस्स य धम्मस्स पभावणा तह य॥
मोक्खसुहम्मि य राओ, अणाययणवज्जणा य सुपसत्था।
सइ अप्पणो य निन्दा, गरहा य कहिंचि खलियस्स॥
एसो जिणेहिं भणिओ, अणन्तनाणीहि भावणामइओ।
धम्मो उ भीमभववणसुजलियदावाणलब्भूओ॥

अर्थात् सम्यक् प्रकार से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की भावनाएँ करना, वैराग्य भावना धारण करना, तीर्थंकर भगवान् की उत्कृष्ट भक्ति करना, संसार से जुगुप्सा करना, काम भोगों के प्रति विरक्ति का भाव रखना, सच्चे साधुजनों की सेवा करना, तीर्थंकर द्वारा कथित धर्म की प्रभावना करना, मोक्ष-सुख में अनुराग रखना, कुगुरु कुदेव कुधर्म आदि का त्याग करना, अपने से कहीं भूल हो जाय तो आत्मसाक्षी से निन्दा करना, और गुरु के समीप जाकर गुरुसाक्षी से निन्दा करना, यह सब अनन्त ज्ञानी जिनवरों ने भावनामय धर्म कहा है। यह भावना-धर्म भयानक संसार रूपी अटवी को नष्ट करने के लिए प्रज्वलित दावानल के समान है। अर्थात् जन्म-मरण के दुःखों का अन्त करने वाला है।

चार प्रकार के इस धर्म का पालन करके ही अनन्त जीवों ने मुक्ति प्राप्त की है और भविष्य में भी वही जीव मुक्ति प्राप्त करेंगे जो इस धर्म का पालन करेंगे।

भव्य जीवो! पुण्य के उदय से आपको जो अनुकूल सामग्री प्राप्त हुई है, उसका आप सदुपयोग कर लें, यही बुद्धिमत्ता

त पुण असण पाण, वत्थ पत्त च भेसय जोग्ग ।
दायव्व तु मइमया, तहेव सयणासण पवर ॥
दायव्व पुण सज्झायझाणनिरयस्स निरुवगारिस्स ।
जो सयमतवभार, वहइ सया तेणुवग्गहिओ ॥

अर्थात्—बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह उचित अशन, पान, वस्त्र, पात्र व औषध तथा शय्या (उपाश्रय-स्थानक) और आसन आदि का दान करे। जो स्वाध्याय और ध्यान में निरत रहते हैं, और जो निरुपकारी हैं, वे यह दान प्राप्त करके सदा संयम और तप के भार को वहन करते हैं। उन्हें यह उपकरण न मिले तो वे संयम और तप की साधना भलीभाँति नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार धर्मोपकरणो का दान करना एक प्रकार से उन्हे स्वाध्याय और ध्यान में सहायता पहुँचाना है।

इसी प्रकार श्रावक को शीलधर्म की भी आराधना करनी चाहिए। शील का अर्थ सदाचार है। हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रह का त्याग करना तथा क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह करना शील है।

तीसरा तपधर्म दो प्रकार का है—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। अनशन आदि बाह्य तपो का और प्रायश्चित, विनय आदि आन्तरिक तपो का यथाशक्ति आराधन करना सुख की प्राप्ति और दुःखो के क्षय का प्रधान कारण है।

चौथा भावनामय धर्म है। इसका स्वरूप इस प्रकार है।

सम्म सम्मद्दसण-नाण-चरिताण भावणा जाओ ।
वेरग्गभावणा वि य परमा तित्थयरभत्ती य ॥



वैराग्य का उद्भव

धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् जिनदास के अन्तःकरण मे एक जिज्ञासा उत्पन्न हुइ। उन्होने विचार किया—"हमारा असीम सौभाग्य है कि इन महर्षि को इस परिषद् मे केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। मै केवली भगवान् के मुखारविन्द से अपना पूर्वभव का वृत्तान्त क्यो न पूछ लूँ ?"

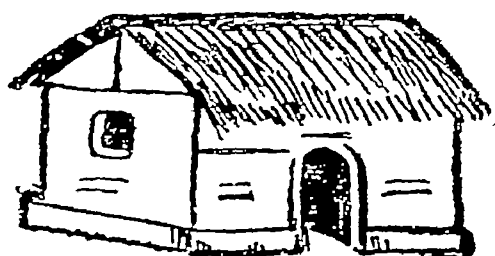
जिनदास ने अपने मन मे इस प्रकार विचार किया ही था कि केवली ने उसका मनोगत भाव जान कर उत्तर देना आरम्भ कर दिया। उन्होने नाम लिये बिना ही सामान्य रूप से कहा —

भव्य जनो ! जीव अनादि काल से ससार मे जन्म-मरण कर रहा है। परन्तु उसे यह ज्ञात नही होता कि मैं पूर्वजन्म में क्या था और क्या कर्म करके इस जन्म मे इस अवस्था को प्राप्त हुआ हूँ ? यदि उसे यह ज्ञात हो जाय तो वह बहुत कुछ बोध प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में मैं एक घटना सुनाता हूं।

यादृश क्रियते कर्म, तादृश भुज्यते फलम् ।
यादृशमुप्यते बीज, तादृश प्राप्यते फलम् ॥

है, यही विवेकशीलता है और इसी में मनुष्य-पर्याय पाने की सार्थकता है।

इस आशय का केवली भगवान् का उपदेश श्रवण करके भव्य जन अत्यन्त प्रसन्न हुए। किसी ने व्रत धारण किये, किसी ने सम्यक्त्व अंगीकार किया और किसी ने अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्याख्यान किये।



बात कही तो वे भी साथ चलने को तैयार हो गए। प्रस्थान की तिथि निश्चित हो गई।

वसुधर यशोधर आदि आठ सेठ मिल कर चलने को तैयार हुए थे। गाडियाँ तैयार की गईं। भोजन-सामग्री तथा आवश्यक बरतन आदि सब चीजे साथ ले ली गई। यथासमय सब लोग व्यापार-यात्रा के लिए चल दिये। रास्ते मे जगह्-जगह् मुकाम करना पडता था। जहाँ जहाँ मुकाम होता वहाँ आवश्यक कार्यो से निवृत्त होकर सेठ वसुधर अपने साथियो को धर्म का उपदेश देने लगते। वसुधर के अतिरिक्त यशोधर धर्म की महिमा को जानता था। उसके मन मे धर्म ठस गया। उसने सच्चे देव, गुरु और धर्म का स्वरूप समझ कर उन पर दृढ श्रद्धा धारण करली। किन्तु शेष छह् साथी इनसे विलक्षण थे। वे वसुधर के उपदेश को उपहास करके ही टाल देते थे। अत्यन्त भारी कर्मों के उदय से उन्हे धर्म के प्रति लेश मात्र भी प्रीति उत्पन्न नही होती थी। यही नहीं, वे लोग परोक्ष मे वसुधर सेठ की निन्दा करते और कहते—इसका धर्म बड़ा ही सकीर्ण है। जब देखो तभी धर्म-धर्म चिल्लाया करता है। ऐसा सुन्दर शरीर मिला है, सो इसका अधिक से अधिक उपयोग करके आनन्द भोग लेना तो दूर रहा, उल्टे तप करके सुखा डालने की बात कहता है। फिर भी वसुधर और यशोधर निराश नहीं हुए। वे शान्ति के साथ उन्हे अपना दृष्टिकोण समझाने का प्रयत्न करते ही रहते। मगर वे भी अपने विचार मे पक्के थे। एक दिन बोले—सेठजी, आप लोगो की बात हमे नही रुचती। आप जो चाहे, करे किन्तु हमे धर्म का उपदेश न दिया करे।

अर्थात्—जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही उसका फल मिलता है। जैसा बीज बोया जाता है, वैसे ही फल की प्राप्ति होती है।

जीव अज्ञान के वशीभूत होकर, मूढ भाव से, सहज ही कर्मों का बन्ध कर लेता है, परन्तु जब वह कर्म उदय मे आते हैं तो बहुत ही कष्ट भोगने पडते हैं। अन्तराय पाँच प्रकार के हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। अन्तराय का अर्थ है विघ्न डालना। जो जीव दूसरों के दान, लाभ आदि मे विघ्न डालता है, उसकी कैसी दशा होती है यह बात मैं एक उदाहरण से समझाता हूँ।

वाणिज्यग्राम मे वसुधर नामक एक व्यापारी सेठ थे। वह वहाँ के अग्रगण्य व्यापारियो में गिने जाते थे। सम्पत्ति की उनके यहाँ कमी नहीं थी। भरपूर वैभव था। सब प्रकार की सुख सामग्री थी।

वसुधर सेठ दृढ़ श्रद्धावान् श्रमणोपासक थे। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वे समुचित धर्म को आराधना करते थे। निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे कोविद थे। न्याय नीति से ही धनोपार्जन करते थे। स्वयं धर्म का पालन करने के साथ वह दूसरो को भी धर्मपालन मे सहायता देते रहते थे। स्वधर्मी जनो की सेवा-सहायता करने में वह कभी भी पश्चात्पद नही करते थे।

एक बार उनकी दुकान का सब माल बिक गया। नया माल खरीदने की आवश्यकता हुई। वैसे तो वसुधर कभी माल लेने स्वय नहीं जाते थे, परन्तु अब की बार उनके मन में विदेश-यात्रा की इच्छा जागी। उन्होने अन्यान्य व्यापारियों से यह

इस प्रकार विचार करते-करते वसुधर सेठ के मन मे ऐसी प्रबल भावना जागृत हुई कि वह भोजन करना भूल गये। उनके नेत्रो से आँसुओं की नदी बह चली।

भावना मे अप्रतिहत सामर्थ्य है। भावना की दृढता से ऐसे-ऐसे चमत्कार होते है कि साधारण जनो की कल्पना मे भी नही आ सकते। यहा भी ऐसा हा चमत्कार हुआ। सेठ वसुधर मुनि को आहारदान देने की प्रबल भावना कर ही रहे थे कि उन्हे अचानक ही एक जिनकल्पी मुनिराज दिखाइ दिये। उस प्रदेश मे यकायक मुनि के दर्शन होने से वसुधर के हर्ष की सोमा नही रही। उसने सोचा—अहा! मेरा भाग्य धन्य है। मेरी भावना फलवती हुई। मेरे प्रकृष्ट पुण्य के उदय से ही मुनिराज का यहाँ आविर्भाव हुआ है।

इस प्रकार विचार कर वसुधर को अत्यन्त प्रमोद हुआ। जैसे मेघगर्जना सुन कर मयूर नृत्य करने लगता है, उसी प्रकार वसुधर का मन--मयूर भी हर्ष से नाच उठा। अब उसकी आँखो मे हर्ष के आँसू छलक आए थे।

ईर्यापथ शोधते हुए मुनिराज उसी ओर आए जिस ओर वसुधर सेठ थे। वसुधर सेठ मुनिराज के सामने गये और समीप पहुंच कर उनके चरणो का स्पर्श किया और पंचांग नमाकर नमस्कार किया। यशोधर ने भी इसी तरह वन्दन-नमस्कार किया। उसका हृदय भी प्रमोद से गद्गद हो गया। वह बोले—आज हमारे धन्य भाग हैं, जो जनशून्य जंगल मे हमारे मनोरथ सफल हुए। अनायास ही हमे कल्पतरु की प्राप्ति हुई।

यह उत्तर सुनकर दोनों मौन हो रहे। उन्होंने समझ लिया कि यह लोग तीव्र मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, अतएव इन्हे अमृत के समान मधुर धर्मोपदेश भी गरल के समान प्रतीत होता है। अतएव इन्हे न छेड़ना ही योग्य है। जैसा भवितव्य होगा, वैसा ही फल पायेंगे। क्योंकि —

उपदेशो हि मूर्खाणा प्रकोपाय न शान्तये।

अर्थात्—मूर्खों के लिए हित का उपदेश भी कोप का कारण बन जाता है, शान्ति का कारण नही बनता।

यह सोचकर वसुधर और यशोधर दोनों आपस मे धर्मचर्चा करते, धर्मक्रिया करते और यतनापूर्वक सब क्रियाएँ करते थे।

एक बार यह सब लोग चलते-चलते किसी वन मे पहुँचे। सब ने सम्मिलित भोजन बनाया। वसुधर ने भोजन के कुछ पात्र धोये और धोवन का पानी एक थाली मे रख दिया। जब भोजन की पूरी तरह तैयारी हो चुकी और वसुधर सेठ भोजन करने बैठे, तब श्रावकधर्म के अनुसार उन्होने बारहवें व्रत-अतिथि-सविभाग की भावना की। वह विचार करने लगे—वह देश धन्य है, अति धन्य है, जहाँ मुनिराज विचरते हैं। वे श्रावक भी धन्य हैं जिन्हे उत्तम पात्र को दान देने का पुण्यमय प्रसंग प्राप्त होता है। आज मै भाग्यहीन हूँ कि मुझे यह सौभाग्य प्राप्त नही है। इस वन्य प्रदेश मे मुनिराज का समागम कहाँ है ? आज मुझे तारने वाला कौन है ? यहाँ सभी प्रकार का निरवद्य और प्रासुक भोजन-पानी तैयार है, किन्तु मेरे प्रबल अन्तराय कर्म का उदय है। मै मुनि को कैसे आहार-दान दे सकता हूँ ?

धर्म प्रेमी श्रावकों का अत्याग्रह देख और उनके चित्त को आघात लगता जान मुनि थोड़ी देर के लिए रुक गए।

तदपश्चात् यशोधर को मुनिवर के समीप छोड़ कर वसुधर अपने उन छह मित्रो के पास आया। उसने अत्यन्त नम्रता और विनय के साथ उन्हे समझाने का प्रयत्न किया। कहा—भाइयो! आज तुमने यह क्या अनर्थ कर दिया? अगर आपको धर्मश्रद्धा नहीं है तो भी कम से कम लोक-व्यवहार के अनुसार शिष्टता का प्रदर्शन तो करना ही चाहिए। आपके व्यवहार से हमें अत्यन्त व्यथा पहुंची है। देखो, अनन्त पुण्य के उदय से निर्जन वन मे अकस्मात् यह शुभ संयोग प्राप्त हो गया है। उत्तम पात्र को दान देने का यह अपूर्व अवसर है। इसे हाथ से मत जाने दो। यह कोई साधारण महात्मा नहीं हैं। राग-द्वेष के विजेता है। उग्र तपस्वी और महाव्रतो के धारक है। अपने तन पर भी इन्हे ममता नही है। भिक्षा के लाभ और अलाभ में इनका सम-भाव है। भिक्षा नहीं मिलने पर तपस्या समझ कर वे संतुष्ट रहते हैं। भिक्षा का लाभ होता है तो अनासक्त भाव से निरवद्य भिक्षा लेते हैं। हम लोगो ने अपने निमित्त रसोई तैयार की है। उसमे से थोड़ी-सी यह महात्मा ग्रहण कर लेंगे तो हम लोग भूखे नही रह जाएंगे। हम अनन्त पुण्य के पात्र बन जाएंगे। अतएव मेरा अनुरोध है कि इस लाभ को मत गँवाओ। सौभाग्य से मुनिराज अभी यहीं हैं।

इस प्रकार वसुधर के बहुत समझाने पर भी वे लोग टस से मस नहीं हुए। वास्तव मे प्रबल पापकर्म का उदय था, अतएव उनकी मति विपरीत हो रही थी। जब वह किसी भी प्रकार मुनि को आहार देने के लिए तैयार न हुए तो विवश होकर वसुधर ने

तत्पश्चात् दोनो ने मुनिराज को भोजन के लिए आमंत्रित किया। मुनिराज भी भोजन ग्रहण करने के अभिप्राय से भोजन-सामग्री के समीप पहुचे।

वसुधर और यशोधर के अतिरिक्त छह सेठ दूर बैठे-बैठे यह दृश्य देखते रहे। वे धर्म के द्वेषी थे, अतएव मुनि के समीप भी नही गए। यहाँ तक तो गनीमत थी, परन्तु जब महामुनि आहार लेने को तत्पर हुए तो उन्हे यह सहन नही हुआ। उन्होने शिष्टता को भी ताक पर रख दिया। वे बोले—'अजी' किस भिखारी को चौके के समीप ला रहे हो? क्या सारा ही चौका बिगाड़ देने का इरादा है?'

यह शब्द सुन कर मुनिवर वापिस लौट गए। सम्मिलित बने हुए भोजन मे से अगर कोई भागीदार आहार देने का अनिच्छुक हो तो मुनि को आहार ग्रहण करना नही कल्पता है। इसी विचार से मुनि तत्काल लौट पडे।

यह घटना देख कर वसुधर और यशोधर को अत्यन्त दुःख हुआ। उन्होने मुनि के चरणो मे गिर कर और उन्हे रोक कर कहा—गुरुदेव! यह छहो जीव अज्ञानी हैं। इन्हे धर्म का लेश मात्र भी बोध नही है। दीनवन्धो! इनके कहने से हमे व्यथा मत पहुँचाइए। आप भोजन ग्रहण किये बिना लौट जाएँगे तो हम लोगो को घोर दुःख होगा। महान् पुण्ययोग से मरुस्थल मे कमल खिला है। हम आपको आहार दिये बिना नही जाने देगे। हाँ, आप अपने कल्प के अनुसार ही आहार ग्रहण कीजिएगा। पर थोड़ी देर विश्राम कीजिए।

भोजन आदि से निवृत्त होकर वे आगे चले। चलते-चलते वेणातट नामक नगर में पहुँचे। वसुधर और यशोधर समझ गये थे कि इनके साथ हमारी पटरी नहीं बैठ सकती। जिनके विचार और व्यवहार परस्पर विपरीत होते हैं, उनका साथ निभ नहीं सकता। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' अर्थात् मित्रता समान शील एवं आदत वालों में ही हो सकती है। यह समझ कर दोनों उनसे अलग हो गए। उन्होंने अपना व्यापार भी अलग ही आरम्भ किया। वसुधर और यशोधर की भावना धर्मोपेत थी और उनकी विचारधारा भी मिलती जुलती थी। दोनों न्याय नीतिपूर्वक व्यापार और साथ ही धर्मक्रिया करने लगे उन्हें व्यापार में अपार लाभ हुआ फिर भी उनके चित में समभाव था।

वसुधर के छह साथी अलग व्यापार करने लगे। किन्तु पाप के योग से उन्हें व्यापार में कुछ भी लाभ नहीं हुआ। यही नहीं, वे अपनी मूल पूंजी भी गंवा बैठे। ऐसी स्थिति में भी धर्म को जानने वाला तो कर्म का उदय समझ कर सन्तोष धारण कर सकता है, परन्तु अधर्मी जीव आर्त्तध्यान के वशीभूत होकर अत्यन्त दुःख का अनुभव करता है। ये छहों व्यापारी मन ही मन अत्यन्त दुःखित थे, परन्तु लज्जा के कारण वसुधर और यशोधर से कुछ कहते भी नहीं थे। परन्तु वसुधर की तीखी निगाह से उनकी हालत छिपी न रह सकी उसे करुणा आ गई। एक दिन उसने इन्हें बुलाकर समझाया—भाइयो! यद्यपि मैंने मतभेद के कारण आपसे अपना संबंध-विच्छेद कर लिया है, तथापि आपके प्रति मेरे चित्त में लेश मात्र भी द्वेष नहीं है। मैं आपको चेतावनी देना चाहता हूं कि आप धर्म की आराधना कीजिए। धर्माराधना ही सुख का एक

कहा—अच्छा, हम दोनों की पाँति का आहार अलग कर दीजिए। फिर हमारी जो इच्छा होगी, वही करेंगे। आपके साथ हमारा कोई सरोकार नहीं रह जाएगा।

छहों साथी वसुधर और यशोधर का हिस्सा देने को तैयार हो गए। उन्होंने दोनों के हिस्से का चौथाई भोजन अलग निकाल दिया। धोवन पानी तैयार था ही। तब वसुधर ने मुनिराज के पास आकर प्रार्थना की—भगवन्! पधारिए, मेरा उद्धार कीजिए। गृहस्थों की बातों पर ध्यान न दीजिएगा। धोवन-पानी और आहार तैयार है, आप अपने कल्प के अनुसार ग्रहण कीजिए।

मुनीन्द्र ने निर्दोष आहार-पानी ग्रहण किया। दाता, देय और पात्र—तीनों की उत्तमता के कारण दान में भी उत्तमता आ जाती है। दाता उदार एवं उन्नत चित्त से दान दे रहा हो, दान ग्रहण करने वाला पात्र अनासक्त भाव से, संयम की सिद्धि के उद्देश्य से ले रहा हो और देने योग्य वस्तु भी विशुद्ध अर्थात् निर्दोष हो तो वह दान उत्कृष्ट बन जाता है। यहाँ तीनों का ऐसा सुन्दर योग मिला था। अतएव वसुधर और यशोधर ने दान के प्रभाव से महान् फल की प्राप्ति की। उनका संसार परीत हो गया। उन्होंने दान क्या दिया, भविष्य के लिए बहुमूल्य पूँजी संचित कर ली।

शेष छह साथी आपस में इन दोनों की निन्दा करने लगे, परन्तु इन्होंने उनके वचन पर कान नहीं दिया। वे जानते थे कि मिथ्यात्व की मदिरा के प्रभाव से इनकी मति विपरीत हो रही है।

भव की प्रीति के प्रभाव से जिनदास का वरण किया। दान के प्रभाव से उसे भी सब प्रकार की सुख-सामग्री प्राप्त हुई।

इस कथा का सार यही है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार दान देना चाहिए। मनुष्य को जो कुछ भी इष्ट वस्तु प्राप्त है, वह सब पुण्य का ही प्रताप है। जो लोग पुण्य के फल से प्राप्त सामग्री को भोगते है, परन्तु आगे पुण्योपार्जन करने मे उसका व्यय नही करते, उनकी वही दशा होती है जो पास की पूंजा उड़ा देने वाले और नवीन न कमाने वाले वणिक् की होती है। वह वर्त्तमान को ही देखता है, भविष्य का किंचित् भी विचार नही करता। ऐसा मनुष्य पशु के समान विवेकहीन जीवन यापन करता है। वह अपने भविष्य को दुःखमय बनाता है।

मनुष्य की विशेषता भविष्य के सुख की ओर लक्ष्य रखने मे ही है। वर्तमान के सुख का परित्याग अगर नही किया जा सकता तो भी भविष्य के सुख के लिए यथाशक्ति दान देने मे तो कष्ट नही होता है। अतएव मननशील मनुष्य को दानधर्म आदि का अवश्य पालन करना चाहिए। कदाचित् कोई दान न दे सके तो कम से कम उसे दूसरे द्वारा दिये जाने वाले दान में अन्तराय तो डालना ही नही चाहिए। दान में अन्तराय डालने का फल अतिशय कटुक होता है। यह निरर्थक पाप है। अतएव इससे तो सबको बचना ही चाहिए।

जिनदास आदि आठो तथा व्याख्यान-परिषद् में उपस्थित अन्य सभी श्रोता यह वृत्तान्त सुन कर अतीव सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए। पुण्य और पाप का प्रत्यक्ष फल देख कर सब के चित्त मे धर्म के प्रति अनुराग जागृत हुआ। सभी को प्रतीति हुई।

मात्र कारण है। धर्म के बिना कभी किसी को सुख मिल ही नहीं सकता। अतः आप लोग अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार धर्म का पालन कीजिए। इसी मे आपका कल्याण है।

धर्म का प्रत्यक्ष फल देखकर छहो सेठ अपना काम निकालने के अभिप्राय से वसुधर के कहे अनुसार व्यवहार करने लगे। दिखावटी तौर पर वे सामायिक-प्रतिक्रमण आदि क्रिया भी करने लगे। इन छह् मे तीन जन विशेष कपटी थे। वे लेन-देन मे कपट करते थे और दूसरो पर अपना भेद प्रकट नहीं होने देते थे। यशोधर उनकी यह प्रवृत्ति देख कर चिढ़ता था। उसे यह व्यवहार सह्य नहीं होता था। अतएव वह "सेर को सवा सेर" की कहावत चरितार्थ करता था। इस प्रकार मायाचार करने के कारण चारो ने स्त्री गोत्र का उपार्जन कर लिया।

यथासमय छहों जीव काल करके देवगति मे उत्पन्न हुए, किन्तु उनमे अपनी-अपनी करणी के अनुसार उच्चता-नीचता थी। उनकी आयु मे भी किंचित् अन्तर था। देवगति की स्थिति पूरी करके पहले तीन प्राणी महेन्द्रपुर में सोहन शाह के घर मे पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। पूर्वभव मे उन्होंने आहारदान मे अन्तराय दिया था, उसके प्रभाव से उनके जन्म लेते ही सोहन शाह का समस्त वैभव नष्ट हो गया। वे और उनके योग से उनके माता पिता भी अत्यन्त दुःख मे पड गए। बाद मे वसुधर सेठ का जीव भी उसी परिवार मे उत्पन्न हुआ। उसका नाम "जिनदास" रक्खा गया। जिन चार जीवों ने कपट करके नारी गोत्र का उपार्जन किया था, उनमे से तीन देवगति से च्युत होकर आवड, जावड़ और खावड की पत्नी हुए हैं। यशोधर ने उसी नगर मे नगरसेठ के घर कन्या के रूप में जन्म लिया और पूर्व-

शरीर की कब क्या दशा हो जायगी, यह भी किसे ज्ञात है ? अतएव आत्मकल्याण का जो सुअवसर मिला है इसे हाथ से जाने देना कोई चतुराई नहीं है। शीघ्र से शीघ्र इसका उपयोग कर लेना चाहिए। देखते हो, ससार मे प्रतिदिन अनगिनती बाल, युवक और वृद्ध काल के उदर मे समा रहे है। वे अपने संकल्प, अपने साथ ही लिये जाते है। उनकी अभिलाषाएँ उनके साथ ही मर जाती है। तुम उन्हे देखकर शिक्षा ग्रहण करो। यह न समझो कि दूसरे ही मरण--शरण होने वाले हैं और हम अमर होकर आये है। इस संसार का कोई भी प्राणी अमर नहीं है। अतएव बुद्धिमान् आत्मकल्याण के अभिलाषी को क्षण भर भी प्रमाद न करना चाहिए।'

सच है, ससार इतना निस्सार, दुःखमय और उद्वेगजनक है कि कोई भी बुद्धिमान् पुरुष उसमे अनुराग नहीं धारण कर सकता। ठीक ही कहा है—

अनित्ये सति मानुष्ये, विद्युत्स्फुरणचञ्चले।
ये रमन्ति नमस्तेभ्य, साहस किमत परम् ॥

अर्थात्—मनुष्यभव एकदम अनित्य है, बिजली की चमक के समान एक क्षण है और दूसरे क्षण नहीं है। यह सब भली-भॉति जानते हुए भी जो लोग इस ससार मे—विषय भोगो मे मस्त रहते हैं, वे धन्य है। उन्हे नमस्कार है। उनसे बढ़ कर साहसी और कौन हो सकता है !

आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य जीवन को अनित्य समझता हुआ भी और परलोक मे फूटी कौड़ी भी साथ नही जा सकती, इस बात को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी पाप-कर्म करके धन

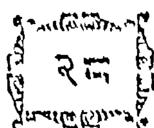
जिनदास के मनमें बड़ा चमत्कार हुआ कि अन्तर्यामी केवली भगवान् ने बिना प्रश्न किये ही मेरे प्रश्न का उत्तर दे दिया। फिर उसने विचार किया—इसमे आश्चर्य ही क्या है ? केवली भगवान् से किसी भी जीव का कोई भी भाव छिपा नही रह सकता। वे घट–घट को जानते है।

इस प्रकार विचार करके जिनदास ने केवली महाराज को वन्दना की और फिर नम्रता के साथ कहा—तरण तारण प्रभो ! आपके वचन प्रशस्त हैं, सत्य हैं, तथ्य है, असदिग्ध हैं। उनमें न न्यूनता है, न अधिकता है। वे सद्भाव के प्रकाशक हैं। कल्याण-कारी हैं। मैंने उन वचनो पर श्रद्धा की है प्रतीति की है। अब उनकी स्पर्शना करने की मेरे अन्तर में अभिलाषा उत्पन्न हुई है। मै भव रूपी अटवी में पर्यटन करता–करता ऊब गया हू। अब इससे छुटकारा चाहता हूँ। नाथ ! इससे छुटकारा पाने के लिए आपके चरण–कमलो का चँचरीक बनना चाहता हूँ। आपके चरण रूपी यान का सहारा लेकर ससार–सागर से पार पहुचना चाहता हूं। दीनानाथ ! मुझ पर दया कीजिए। मुझे धर्म का आश्रय देकर कृतार्थ कीजिए। मेरा उद्धार कीजिए।

केवली ने कहा—'जहासुह देवाणुप्पिया ! मा पडिबध करेह।'

अर्थात्—हे देवो के प्यारे ! जिसमे तुम्हे सुख उपजे, उस कार्य का करने मे विलम्ब न करो।

केवली भगवान् आगे बोले—भव्य ! जीवन का कोई भरोसा नही है। आयु किसी भी क्षण समाप्त हो सकती है। जीवन स्थिर रहते भी कब क्या विघ्न उपस्थित हो जायगा, इस



दीक्षा और स्वर्गारोहण

जिनदास की आत्मा वैराग्य के गहरे रंग में डूब गई थी। दीक्षा के संकल्प मात्र से वह एक प्रकार का हल्कापन अनुभव कर रहे थे। श्रावक प्रतिदिन तीन मनोरथ किया करता है। उसमें एक मनोरथ यह भी है कि:—

कब आयगा वो दिन बनूँ साधु विहारी।

अर्थात्—मेरे जीवन में वह पुण्यमय अवसर न जाने कब आएगा कि मैं जगत् के समस्त जंजाल त्याग कर अकिंचन अण-गार बनूँगा। अभी तक जगत् के पदार्थों को मैं अपना समझ रहा हूँ। यह मेरी दुर्बलता है। जिस दिन इन सचेतन-अचेतन पदार्थों को परकीय समझ कर त्याग दूंगा और अपनी शुद्ध आत्मा को ही अपनी समझ कर उसी में रमण करूँगा, वह दिन कितना धन्य होगा! आज मैं परावलम्बी हूँ, उस दिन सच्चा स्वावलम्बी बनूँगा।

जिनदास का आज वह मनोरथ सफल हो रहा था। अतएव उसके मन में अत्यन्त प्रमोद था। हवेली में आते ही जिनदास ने अपने सब परिवार को एकत्र किया। आज सभी के

आदि के उपार्जन में लगा रहता है और आत्मा के वास्तविक कल्याण की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता है। यह दशा देख कर ज्ञानी जन कहते हैं:—

सचित सचित द्रव्य, नष्ट तव पुनः पुनः ।
कदाचिन्मोक्ष्यसे मूढ ! धनेहां धनकामुक !

अरे धन के लोभी ! अरे मूढ़ ! अनादिकाल से अब तक तूने अनन्त बार मनुष्य गति पाई है और प्रत्येक बार तूने धन का सचय किया। मगर आज वह धन क्या तेरे पास रहा ? नहीं। तूने बार-बार सचय किया और बार-बार ही वह नष्ट हो गया। तो क्या तेरा यह विचार है कि अब की बार का सचित किया हुआ धन सदैव तेरे पास रहेगा ? अगर ऐसा नहीं समझता तो तू कब अपनी धन-लोलुपता का परित्याग करेगा ? तुझे कब समझ आएगी ? कब तक मोह रूपी मदिरा के नशे में मस्त रहेगा ?

जिनदास विवेकवान् श्रावक था। उसने गृहस्थावस्था में रहते हुए भी धर्म का मर्म पा लिया था और गृहस्थधर्म का पालन करते हुए साधुधर्म की आराधना की तैयारी कर ली थी। अतएव इधर पुत्र को समर्थ देख कर और इधर वैराग्य की जागृति होने से वह सयम धारण करने के लिए तैयार हो गया।

जिनदास ने कहा—प्रभो ! लोक के आचार को सम्पन्न करके मैं शीघ्र लौटूँगा और दीक्षा धारण करूँगा।

यह कह कर जिनदास सपरिवार अपनी हवेली की ओर चला गया।

यही नही, वह स्वय भी पति की अनुगामिनी बनने को तैयार हो गई।

ऐसी धर्मशीला आदर्श रमणियो की बदौलत ही धर्म चमक सकता है। भोग के कीचड़ मे फॅसी रहने वाली, नाना प्रकार के नखरे करके पति के चित्त मे विकार उत्पन्न करने वाली और अपने दाम्पत्य जीवन को सांसारिक सुख के निमित्त ही समझने वाली स्त्रियाँ मोह में पड़ी हैं, स्वार्थ मे अन्धी हो रही है। उन्होने दाम्पत्य जीवन के उच्चतर आदर्शों को समझा ही नहीं है। सुगुणो ऐसी स्त्रियों मे नहीं थी।

सुगुणी का उत्तर सुनकर जिनदास को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

इसके पश्चात् जिनदास ने अपने भाइयो और भौजाइयो की ओर उन्मुख होकर कहा—'इतने दिनो तक मैं आपकी सेवा मे रहा। अब आत्मा की आराधना करना चाहता हू। अभी तक मेरा परिवार सीमित था, अब वह विशाल बन रहा है। मै प्रत्येक प्राणी का होऊँगा और प्रत्येक प्राणी मेरा आत्मीय होगा। तथापि मैं आपको दुविधा मे नहीं डालना चाहता। यह हवेली और यह सब सम्पत्ति आपकी है। धर्मोदय भी आपका ही है। आप उसके साथ प्रसन्नतापूर्वक यहाँ निवास करें। अगर आपकी इच्छा अलग रहने की हो तो मैं वैसी व्यवस्था कर दू। आप जितना धन चाहे, खुशी से ले लें।'

जिनदास के यह शब्द सुनकर उसके भाइयो और भौजाइयो के नेत्र गीले हो गए। उन्होने कहा—लालाजी! हम अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को भुगत चुके है। अगर इस अवसर पर

हृदय हर्ष-विभोर हो रहे थे। जिनदास ने सब के समक्ष अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहा—आप सब को ज्ञात ही है कि मैंने अब संयम लेने का विचार कर लिया है। मैं आशा करता हूं कि अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुन लेने के पश्चात् आप मे से कोई भी मना नही करेगा।

सुगुणी—"मैं आपके विचार का अनुमोदन करती हूं। इस जीवन की चरम सार्थकता शाश्वत सिद्धि प्राप्त करने मे ही है। मै स्वयं साध्वी होने का संकल्प कर चुकी हूं और आपकी आज्ञा प्राप्त करने का विचार कर रही थी। गृहस्थी मे आपके साथ रही हू। हम दोनो ने साथ-साथ ही गृहस्थ-जीवन के सुख-दुःख भोगे है। ऐसी स्थिति में संयम-जीवन मे भी मैं आप से पीछे नही रह सकती। हम जोड़ी से संयम ग्रहण करेंगे।"

धन्य सुगुणी! धन्य है! ऐसे अवसर पर स्त्री अपनी स्वाभाविक कातरता के वशीभूत हो जाती है और आँसू बहाने लगती है। वह ममता अथवा स्वार्थ के चक्र में पड जाती है और अपने पति को कल्याण के पथ से विचलित करने का प्रयास करती है। मगर सच्ची अर्धाङ्गिनी का यह कार्य नही है। शास्त्र मे पत्नी को "धम्मसहाया" कहा है। अतएव सच्ची पत्नी वही है जो अपने पति के धर्म मे सहायक हो। इसी अभिप्राय से हमारे यहाँ पत्नी को "धर्मपत्नी" भी कहा जाता है। अपने पति को भोगों के दलदल मे फँसाने वाली और धर्म से विमुख करने वाली पत्नी सच्ची धर्मपत्नी नही कहला सकती। सुगुणी वास्तविक अर्थ मे "धम्मसहाया" थी। अतएव उसने स्वार्थ या भोगलिप्सा का विचार नही किया। गृहस्थी के विपुल भोग उसे लुभा न सके। उसने पति के दीक्षा लेने के विचार का सहर्ष अनुमोदन किया।

यही नहीं, वह स्वयं भी पति की अनुगामिनी बनने को तैयार हो गई।

ऐसी धर्मशीला आदर्श रमणियो की बदौलत ही धर्म चमक सकता है। भोग के कीचड मे फँसी रहने वाली, नाना प्रकार के नखरे करके पति के चित्त में विकार उत्पन्न करने वाली और अपने दाम्पत्य जीवन को सांसारिक सुख के निमित्त ही समझने वाली स्त्रियॉ मोह मे पडी है, स्वार्थ मे अन्धी हो रही है। उन्होने दाम्पत्य जीवन के उच्चतर आदर्शों को समझा ही नहीं है। सुगुणी ऐसी स्त्रियो मे नहीं थी।

सुगुणी का उत्तर सुनकर जिनदास को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

इसके पश्चात् जिनदास ने अपने भाइयो और भौजाइयो की ओर उन्मुख होकर कहा—'इतने दिनो तक मैं आपकी सेवा मे रहा। अब आत्मा की आराधना करना चाहता हू। अभी तक मेरा परिवार सीमित था, अब वह विशाल बन रहा है। मै प्रत्येक प्राणी का होऊँगा और प्रत्येक प्राणी मेरा आत्मीय होगा। तथापि मैं आपको दुविधा मे नहीं डालना चाहता। यह हवेली और यह सब सम्पत्ति आपकी है। धर्मोदय भी आपका ही है। आप उसके साथ प्रसन्नतापूर्वक यहाँ निवास करें। अगर आपकी इच्छा अलग रहने की हो तो मैं वैसी व्यवस्था कर दू। आप जितना धन चाहें, खुशी से ले ले।'

जिनदास के यह शब्द सुनकर उसके भाइयो और भौजाइयो के नेत्र गीले हो गए। उन्होंने कहा—लालाजी! हम अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को भुगत चुके हैं। अगर इस अवसर पर

भी न चेतें तो फिर कब चेतेंगे ? अगर अब भी धर्मसाधना नहीं करेंगे तो आगे न जाने क्या दशा होगी। जब से हमने पूर्वभव का वृत्तान्त सुना है, तभी से संयम ग्रहण करने का संकल्प कर लिया है। अब हम किसी के कहने से भी रुकने वाले नहीं। हम भी दीक्षा धारण करके अपने पापों का क्षय करेंगे और सिद्धि प्राप्त करने का जतन करेंगे।

जिनदास को इस निश्चय पर क्या ऐतराज हो सकता था। उसने उनको पवित्र भावना की सराहना की और कहा—आप सब का विचार उचित ही है। विवेकी जनों का यही सही कर्त्तव्य है।

तत्पश्चात् जिनदास ने अपने पुत्र धर्मोदय से कहा—वत्स ! हम सब को दीक्षा अंगीकार करने की आज्ञा प्रदान करके अपूर्व लाभ लो।

अब तक जो बातचीत हो रही थी, उसे सुन कर धर्मोदय का चित्त उद्विग्न हो रहा था। यद्यपि वह अपने नाम के अनुसार धर्म का ज्ञाता और प्रेमी था, फिर भी एक साथ समस्त गुरुजनों के विछोह को सहन करना उसके लिए बहुत कठिन हो गया। वह बड़ी दुविधा एवं असमंजस में पड़ा था। उसे समझ में नहीं आता था कि इस अवसर पर वह क्या करे ? एक ओर हृदय की ममता उमड़ रही थी और दूसरी ओर विवेक की प्रेरणा जाग रही थी। ऐसी दुविधा की स्थिति में जब जिनदास ने उसकी आज्ञा माँगी तो उसे गहरा आघात-सा लगा। उसके नेत्रों में आँसू भर आए। उसने कहा—आप सब एक ही साथ घर खाली करना चाहते हैं, किन्तु यह तो सोचिए कि मुझे किसका सहारा

भी न चेतें तो फिर कब चेतेंगे ? अगर अब भी धर्मसाधना नहीं करेंगे तो आगे न जाने क्या दशा होगी । जब से हमने पूर्वभव का वृत्तान्त सुना है, तभी से संयम ग्रहण करने का संकल्प कर लिया है । अब हम किसी के कहने से भी रुकने वाले नहीं । हम भी दीक्षा धारण करके अपने पापों का क्षय करेंगे और सिद्धि प्राप्त करने का जतन करेंगे ।

जिनदास को इस निश्चय पर क्या ऐतराज हो सकता था । उसने उनकी पवित्र भावना की सराहना की और कहा—आप सब का विचार उचित ही है । विवेकी जनों का यही सही कर्त्तव्य है ।

तत्पश्चात् जिनदास ने अपने पुत्र धर्मोदय से कहा—वत्स ! हम सब को दीक्षा अंगीकार करने की आज्ञा प्रदान करके अपूर्व लाभ लो ।

अब तक जो बातचीत हो रही थी, उसे सुन कर धर्मोदय का चित्त उद्विग्न हो रहा था । यद्यपि वह अपने नाम के अनुसार धर्म का ज्ञाता और प्रेमी था, फिर भी 'एक साथ समस्त गुरुजनों के विछोह को सहन करना उसके लिए बहुत कठिन हो गया । वह बड़ी दुविधा एवं असमंजस में पड़ा था । उसे समझ में नहीं आता था कि इस अवसर पर वह क्या करे ? एक ओर हृदय की ममता उमड़ रही थी और दूसरी ओर विवेक की प्रेरणा जाग रही थी । ऐसी दुविधा की स्थिति में जब जिनदास ने उसकी आज्ञा माँगी तो उसे गहरा आघात-सा लगा । उसके नेत्रों में आँसू भर आए । उसने कहा—आप सब एक ही साथ घर खाली करना चाहते हैं, किन्तु यह तो सोचिए कि मुझे किसका सहारा

रहेगा ? मैं अभी बालक हूं और मुझे किसी का सहारा तो चाहिए ही !

जिनदास—वत्स ! सदा से यही रीति चली आ रही है। एक आता है और चला जाता है। उसकी जगह दूसरा ले लेता है और जब वह भी चल देता है तो तीसरा उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। यही ससार-प्रवाह कहलाता है। यह प्रकृति का अटल विधान है। यहाँ कोई भी स्थिरवास नही कर सकता।

धर्मोदय—फिर भी मुझे निराधार न कीजिए !

जिनदास—जगत् मे कोई किसी का आधार नही है, यही परमार्थ की बात है। लोग दूसरे को अपना आधार मानते है, यह उनका भ्रम है। यही भ्रम उन्हे दुर्बल बनाता है और दूसरे अनर्थ उत्पन्न करता है। अत वत्स ! तुम दूसरे के आधार की बात हृदय से निकाल दो। पूर्वोपार्जित पुण्य ही तुम्हारा सब से बडा आधार है। सत्य, शील, दया और दान का सहारा ग्रहण करो। परकीय आधार सच्चा आधार नही हो सकता। भगवान् ने कहा है —

अप्पा ! तुममेव तुम मित्त,
किं बहिया मित्तिमिच्छसि ? ॥

अर्थात्—हे आत्मन् ! तुम स्वयं ही तुम्हारे मित्र हो। दूसरे मित्र की कामना क्यों करते हो ?

तुम अब नादान नही हो। वस्तुस्थिति को समझते हो। अतएव भावुकता के अधीन न होकर अपने विवेक को ही जगाये रक्खो।

धर्मोदय ने सोचा—सब का संयम ग्रहण करने का उत्कृष्ट भाव है। ऐसी दशा में किसी को रोकने का हठ करना व्यर्थ होगा, उचित भी नहीं है। अत. अनमने भाव से उसने हाथ जोड़ कर कहा—जैसे आप सब को सुख उपजे वैसा कीजिए। मैं नाहीं कैसे करूँ?'

मगर यह शब्द कहते-कहते उसका हृदय भर आया। गला रुंध गया। वह आगे कुछ भी नहीं कह सका।

इस प्रकार धर्मोदय की अनुमति पाकर सब को सन्तोष हुआ। तत्पश्चात् चार प्रकार की भोजन-सामग्री तैयार करवा कर जिनदास ने स्वधर्मी भाइयों को और ज्ञातिजनों को आमन्त्रण दिया। सब का प्रेमपूर्वक भोजन आदि से सत्कार किया। भोजन कर चुकने के पश्चात् सब आमंत्रित सज्जन एकत्र बैठे। जिनदास ने सब के सामने खड़े होकर नम्रता पूर्वक कहा—हम आठों ने संयम धारण करने का निश्चय किया है। हम मानव-जीवन के वास्तविक लाभ को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहते हैं। धर्मोदय अब हमारे स्थान पर है। आपकी जैसी कृपा हमारे ऊपर रही है, वैसी ही कृपा इस पर रखना। यह अभी नवयुवक है। आप सब अनुग्रह के भाव से इसे निभा लेना।

जिनदास का यह विनम्र निवेदन सुन कर सब की आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। जिनदास सब के आधार भूत थे। सब के सुख-दुःख में समान भाव से काम आते थे। जब कभी किसी के सामने कोई पेचीदा प्रश्न उपस्थित होता तो वह जिनदास के पास आता और वे आत्मीयता के भाव से

उसे सुलझाते थे। सब को यथोचित परामर्श देते थे। वह सभी के पथप्रदर्शक, हितैषी और सहायक थे। अतएव इस अवसर पर सब को खेद होना स्वाभाविक ही था। परन्तु वे जिस श्रेयोमार्ग पर अग्रसर हो रहे थे, उससे रोकना न सम्भव ही था और न उचित ही था। अतएव सब लोग मन मसोस कर रह गए। उनमे जो सबसे बडे बुजुर्ग थे, वह बोले—आप धर्मोदय कुँवर के लिए अणु मात्र भी चिन्ता न कीजिए। वह बिलकुल आपके ही समान है। वे उलटा हमारी सार-सम्भाल करेंगे। अब हमारे लिए वही आपके स्थान पर होंगे। भला, आप जैसे धर्मनिष्ठ श्रावक के सुपुत्र कितने योग्य न होंगे?

सब लोग जिनदास की उत्कृष्ट भावना देख धन्य-धन्य करने लगे।

इसके पश्चात् दीक्षा-उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं। धर्मोदय अपने माता-पिता के असीम उपकारो का विचार करके, उनके प्रति अपना अन्तिम कर्त्तव्य बजाना चाहते थे। अतएव उन्होंने धूमधाम से दीक्षा-उत्सव करने का निश्चय किया। भावी मुनियो और आर्यिकाओ के लिए प्रचुर पारितोषिक देकर ओघा पात्र मँगवा लिये गये। पालकियाँ सुसज्जित की गईं। सहस्रो नर-नारी इस दृश्य को देखने के लिए जिनदास की हवेली के सामने जमा हो गए।

यथा समय सब परिवार शिविकाओ पर सवार हुआ और शिविकाएँ उसी उद्यान की ओर चल पड़ी, जहाँ मुनिराज विराजमान थे। उद्यान के समीप पहुँचते ही सब शिविकाओ से नीचे उतर पड़े। पैदल चल कर मुनिराज के पास पहुँचे। सब ने

धर्मोदय ने सोचा—सब का संयम ग्रहण करने का उत्कृष्ट भाव है। ऐसी दशा में किसी को रोकने का हठ करना व्यर्थ होगा, उचित भी नहीं है। अतः अनमने भाव से उसने हाथ जोड़ कर कहा—जैसे आप सब को सुख उपजे वैसा कीजिए। मैं नाहीं कैसे करूँ?'

मगर यह शब्द कहते-कहते उसका हृदय भर आया। गला रुंध गया। वह आगे कुछ भी नहीं कह सका।

इस प्रकार धर्मोदय की अनुमति पाकर सब को सन्तोष हुआ। तत्पश्चात् चार प्रकार की भोजन-सामग्री तैयार करवा कर जिनदास ने स्वधर्मी भाइयों को और ज्ञातिजनों को आमन्त्रण दिया। सब का प्रेमपूर्वक भोजन आदि से सत्कार किया। भोजन कर चुकने के पश्चात् सब आमन्त्रित सज्जन एकत्र बैठे। जिनदास ने सब के सामने खड़े होकर नम्रता पूर्वक कहा—हम आठों ने संयम धारण करने का निश्चय किया है। हम मानव-जीवन के वास्तविक लाभ को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहते हैं। धर्मोदय अब हमारे स्थान पर है। आपकी जैसी कृपा हमारे ऊपर रही है, वैसी ही कृपा इस पर रखना। यह अभी नवयुवक है। आप सब अनुग्रह के भाव स इसे निभा लेना।

जिनदास का यह विनम्र निवेदन सुन कर सब की आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। जिनदास सब के आधार भूत थे। सब के सुख-दुःख में समान भाव से काम आते थे। जब कभी किसी के सामने कोई पेचीदा प्रश्न उपस्थित होता तो वह जिनदास के पास आता और वे आत्मीयता के भाव से

थे । इतने विराट वैभव और अतुल धन का त्याग कर देना कोई साधारण बात नहीं थी । लोग कह रहे थे-धन्य हैं जिनदासजी जिन्होंने समस्त विभूति को मिट्टी के ढेले के समान समझा और आत्म कल्याण को सर्वोपरि मानकर भिक्षु-जीवन अगीकार किया !

उधर जिनदास आदि मुनियो ने तथा सतियो ने गुरु की विनय भक्ति-पूर्वक ज्ञान का अभ्यास आरंभ किया । उन्होंने आसेविनी और ग्रहणी शिक्षा सीखी । आठो त्यागी अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान प्राप्त कर चुकने के पश्चात् तपस्या करने मे दत्तचित्त हुए। सबने अपने उच्च ज्ञान और उत्कृष्ट तपश्चरण आदि के प्रभाव से जिनशासन की प्रभावना की और अपने ससर्ग मे आये हुए अनेक भव्य प्राणियो का उद्धार किया । इस प्रकार ज्ञान और चारित्र की आराधना करते हुए वे जगत् को भी उपकृत करने लगे ।

कुछ समय के पश्चात् जिनदास मुनि का जब अन्तिम समय सन्निकट आया तो उन्होंने सलेखना व्रत को अगीकार किया । अनशन आरभ कर दिया । अन्त मे समभाव पूर्वक पण्डितमरण से देह का त्याग करके वे विजय नामक अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुए ।

इसी प्रकार महासती सुगुणी का जीव देह त्याग कर और नारीलिंग का छेदन करके अच्युत विमान मे देव रूप से उत्पन्न हुआ ।

अन्य मुनियो और महासतियो ने भी अपनी-अपनी करणी के अनुसार देवगति प्राप्त की ।

यह सभी जीव थोड़े भवो के अन्तर से मुक्ति प्राप्त करेंगे ।

विधिपूर्वक नमस्कार किया। तदनन्तर ईशान कोण में जाकर सब वैरागियों ने अपने-अपने आभूषण उतारे और पंचमुष्टि लोंच लिया। पुरुषों ने सन्तों का और नारियों ने आर्यिकाओं का वेश धारण किया।

इस प्रकार संयममय जीवन की परिपूर्ण तैयारी करके सभी मुमुक्षु मुनीश्वर के समक्ष हाथ जोड़ कर खड़े हुए और बोले—तरणतारण! अनुग्रह करके हमारा उद्धार कीजिए।

मुनीश्वर ने परिवार की आज्ञा से सब को आर्हती दीक्षा देकर उनके जीवन में महान् परिवर्तन कर दिया। नवदीक्षित मुनि मुनिमण्डली में जाकर बैठ गये और आर्याएँ आर्याओं के बीच जाकर विराजमान हो गई।

उनके परिवार के लोग सभी मुनियों--आर्यिकाओं को वन्दना करके और शक्ति के अनुसार त्याग--प्रत्याख्यान अंगी--कार करके रवाना हुए। मगर सबके हृदय बहुत भारी थे। जिनदास और सुगुणीदेवी के असाधारण उत्तम गुणों का स्मरण कर--करके उनके मन में गहरी वेदना होने लगी। परिवार के लोग समझने लगे कि आज हमारा परिवार उजड़ गया है। नगर-निवासी मानने लगे कि आज हमारे नगर की शोभा चली गई। नगर श्रीविहीन और ऊजड़ हो गया। सब के मन उदास और अशान्त थे। सब गहरी आहें भर रहे थे। कोई किसी से विशेष वातचीत नहीं कर रहा था। वातावरण में औदासीन्य--मयी गम्भीरता व्याप्त थी।

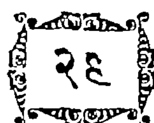
सभी लोग लौट कर अपने-अपने घर को आये। आज नगर में सर्वत्र जिनदास आदि की दीक्षा ही चर्चा का मुख्य विषय था। सभी जगह, सभी लोग, उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे

निष्कलुष बनता है और ऐसे अन्त करण रूपी क्षेत्र में ही सुखो के अकुर उगते हैं। अतएव जो प्राणी अपने इहलोक और परलोक को सुधारने का इच्छुक है, जो सासारिक क्लेशो से सदा के लिए छुटकारा चाहता है, जो अक्षय, अखण्ड, अनन्त एव असीम शान्ति को प्राप्त करने का इच्छुक है, उसे एकाग्र भाव से धर्म की आराधना करनी चाहिए।

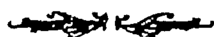
यहाँ महापुरुष जिनदास की और पुण्यप्रतिमा सुगुणी की जो कथा लिखी गई है, वह मनोरजन के हेतु नहीं है। जिनदास और सुगुणी का आदर्श चरित श्रावको और श्राविकाओ के लिए पथप्रदर्शक है। ध्यानपूर्वक उनके चरित पर विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि ऊपर उद्धृत श्लोक मे धर्म की जो महिमा दिखलाई गई है, वह इनके चरित से पूरी तरह घटित होती है। अतएव यह चरित धर्म की महिमा का परिचायक है। इसे पढ-सुन कर पाठक और श्रोता अपने कर्त्तव्य को पहचाने, श्रावकाचारधर्म और मुनि धर्म की झाँकी पा सकें, यही इस चरित का उद्देश्य है। इस कथा से पाठको को जो प्रेरणा प्राप्त होती है, उसे सक्षेप मे, इस प्रकार कहा जा सकता है —

(१) जिस प्रकार सोहन शाह ने सद्गुरु के सत्सग से अपनी विपत्ति पर विजय प्राप्त की और अपनी दरिद्रता का निवारण करने का मार्ग पाया, उसी प्रकार सभी को सत्सगति करनी चाहिए। जो ऐसा करेंगे, उन्हे अविचल सुख की प्राप्ति होगी।

(२) इस कथा में श्रीपति सेठ का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनका परिवार गृहस्थों के लिए आदर्श है। गृहस्थी के



उपसंहार



धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बल,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशोविद्यार्थसम्पत्तय. ।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सतत धर्म परित्रायते,
धर्म सम्यगुपासता भवति हि स्वर्गापवर्गप्रद ॥

अर्थात्—धर्म के प्रभाव से सुकुल मे जन्म होता है, नीरोग और परिपूर्ण इन्द्रियो वाले शरीर की प्राप्ति होती है, सौभाग्य, दीर्घायु तथा बल का लाभ होता है। धर्म के ही प्रताप से निष्कलक कीर्त्ति, विद्या तथा धन-सम्पत्ति मिलती है। धर्म प्राणियों को भयानक से भयानक जगल मे भी बचाता है और बड़े से बड़े भय से भी रक्षा करता है। जो विवेक के साथ धर्म की सम्यक् प्रकार से उपासना करते हैं, उनके लिए धर्म स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) दाता होता है।

यहाँ धर्म का जो प्रभाव बतलाया गया है, उससे स्पष्ट है कि एक मात्र धर्म ही प्राणियो को लौकिक और लोकोत्तर सुख देने वाला है। धर्म से ही दु ख, दारिद्र्य और दुर्गति दूर होती है। धर्म के आचरण से मनुष्य का अन्त.करण निर्मल एवं

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्य च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।
आपद्गत च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिद प्रवदन्ति सन्त ॥

अर्थात्—जो मित्र अपने मित्र को पापाचरण से रोकता है, हितकर कार्य मे लगाता है, जो अपने मित्र की छिपाने योग्य बात को छिपाता है और सद्गुणो को प्रकाश मे लाता है, मित्र पर विपत्ति आने पर उसका परित्याग नहीं करता वरन् साथ देता है, समय पडने पर यथोचित सहयोग देता है, वह सच्चा सुमित्र है। ऐसा सत्पुरुषो का कथन है।

(४) सुगुणी का चरित्र कन्याओ, बहुओ और गृहस्वामिनियो के लिए अत्यन्त ही बोधप्रद है। सुगुणी बाल्यावस्था से ही धर्म के रङ्ग मे रङ्गी हुई थी। धर्म उसे इतना प्यारा था कि उसने अपने पिता से स्पष्ट कह दिया कि आप मेरे विवाह का विचार तो करते है, परन्तु मैं रूप की या धन की भूखी नही हू। मेरे लिए धर्म सर्वोपरि है। अतएव किसी अधर्मी वर के साथ मेरा सबंध नहीं होना चाहिए।

धर्म के प्रति प्रगाढ आस्था न होती तो क्या एक बालिका लज्जा, सकोच और झिझक छोड कर अपने माता-पिता के सामने इस प्रकार की बात मुँह से निकाल सकती थी ? धर्म की प्रखर प्रेरणा और प्रीति ने ही उससे यह कहलाया है। सुगुणी का यह उदाहरण बालिकाओं के लिए अनुकरणीय है। वे अधर्मी पति के साथ विवाह-सबध करने से स्पष्ट इकार कर दे तो माता-

मुखिया के लिए तो वह और भी अधिक बोधदायक है। परिवार के मुखिया को स्वयं किस प्रकार का होना चाहिए और अपने परिवार में किस तरह का धार्मिक वायु-मण्डल निर्माण करना चाहिए, यह बात श्रीपति सेठ के चरित से स्पष्ट जानी जा सकती है। स्वयं नीति और धर्म का पालन करके तथा नियत समय पर सारे परिवार को एकत्र करके धर्मचर्चा करके उन्होंने परिवार के प्रत्येक सदस्य में धार्मिकता के बीज बो दिये। सुगुणी देवी के पवित्र जीवन का निर्माण उसी वातावरण में हुआ। जो गृहस्थ अपनी कन्या को यशस्विनी पुण्य परायणा, धर्मनिष्ठा, नीति-निपुणा और श्रेष्ठ देखना चाहता है, उसे श्रीपति सेठ के पदचिन्हों पर चलना चाहिए। मुखिया का कर्त्तव्य है कि वह अपने समग्र परिवार को सुधारने की भरसक चेष्टा करे।

(३) जिनदास धर्मसंस्कारहीन कुल में जन्म लेकर भी सन्मित्र की संगति से धर्म के मार्ग पर आ गया। उसके जीवन-सुधार का आद्य कारण सच्चा मित्र था। यह घटना बतलाती है कि जीवन को बनाने और बिगाड़ने में मित्रों का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। अतएव मनुष्य को मित्र तो अवश्य बनाने चाहिए, परन्तु बहुत सोच समझ कर और परख कर ही बनाने चाहिए। अनाचारी मित्र की संगति मनुष्य के पतन का कारण बनती है और सदाचारी मित्र उत्थान का कारण बनता है। जिनदास को यदि धर्मनिष्ठ मित्र न मिला होता तो कौन कह सकता है कि उसकी क्या स्थिति होती? उसका झुकाव किस ओर को होता? वह अपने जीवन में जो उत्कर्ष प्राप्त कर सका, वह प्राप्त कर सकता या नहीं? सन्त जनों ने सन्मित्र का लक्षण इस प्रकार बतलाया है —